बच्चों की कुछ समस्याएँ

कालूलाल श्रीमाली

विद्याभवन सोसायटी : उदयपुर

प्रकाशक—
विद्याभवन सोसायटी,
उदयपुर (राजपूताना)।

द्वितीय संस्करण, १९४७ ई०
मूल्य ३)
कपड़े की जिल्द का ३।)

मुद्रक—
मदन मोहन, बी. ए.,
निवास प्रेस, मेरठ।

प्रस्तावना

नन्हा सा, फूल सा बच्चा किसको प्यारा नहीं लगता ? बच्चे के भोलेपन पर कौन नहीं बलि हो जाता !

बच्चे की तोतली बातें सुनकर और भोली हरकतों को देखकर लोग शायद यह भूल जाते हैं कि बच्चे में भोलेपन के साथ ही साथ भली-बुरी सभी प्रवृत्तियों के बीज भी छिपे हुए हैं। जिस तरह समय पाकर बीज पहले पौधे और फिर फल-फूलों से लदे पेड़ के रूप में हमारे सामने आता है, उसी तरह नन्हे बच्चों में छिपी हुई विभिन्न प्रवृत्तियाँ विभिन्न समय में पनपती हैं।

पर सभी प्रवृत्तियों के बीज सभी बच्चों में एक से नहीं होते, सभी बच्चों की सभी प्रवृत्तियाँ एक सी नहीं पनपतीं। किसी बच्चे में किसी एक प्रवृत्ति का सन्तोषप्रद विकास होता है और किसी बच्चे में किसी दूसरी का। यह ठीक वैसे ही है जैसे सभी आम एक से मीठे और रसीले नहीं होते। यही कारण है कि आगे चलकर बच्चे के बल, वीर्य्य और मानसिक प्रवृत्तियों के विकास में जन्मगत प्रभेद दीख पड़ता है।

बच्चे का कौन सा गुण किस हद तक विकसित होगा, यह बच्चे के जन्मगत संस्कारों पर निर्भर है। क्योंकि आप जानते हैं, एक ही अवस्था में एक ही तरह की शिक्षा पाकर कोई बच्चा विद्वान् हो जाता है और कोई मूर्ख ही रह जाता है। बच्चे के जन्मगत संस्कार और गुणों का विकास जन्मगत बीज के गुणावगुण और बाहरी आवेष्टनी पर निर्भर है। उपयुक्त मिट्टी, पानी, हवा न पाने पर जिस तरह अच्छे

श्राम के बीज से भी अच्छे श्राम का पेड़ नहीं होता, उसी तरह उचित शिक्षा-दीक्षा के अभाव में बच्चे के सहज गुणों का विकास रुक जाता है। यदि बच्चे के चारों ओर की आवेष्टनी नियन्त्रित रखी जाय तो उसके अनेक जन्मगत दोष पनप नहीं सकते और गुणों का उचित विकास भी हो सकता है। किस अवस्था में किस गुण का विकास और किस अवगुण का नाश होगा, यह जान लेना कठिन है। लेकिन जिन्होंने मनोविज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया है वे खोज करने पर जान सकते हैं कि किस प्रकार की आवेष्टनी में बच्चा उन्नत हो सकेगा।

श्री बसलूलाल श्रीमाली इस विषय के विशेषज्ञ हैं। वे बहुत दिनों से बालमनोविज्ञान की गवेषणा में लगे हुए हैं। वे विद्याभवन उदयपुर के प्रधान शिक्षक ही नहीं, अपितु 'बालहित' नामक एक मासिक पत्र के सफल सम्पादक भी हैं। उन्होंने 'बालहित' में 'बच्चों की दुनिया', *'बच्चों के खेल और खिलौने'*, *'बच्चों में भय'*, *'मर्य्यादा-पालन'*, 'आदत' इत्यादि बहु-उपयोगी लेख लिखे हैं। बच्चों के अभिभावकों के जानने योग्य बातों का उक्त पत्र में उचित समावेश रहता है। भारतीय भाषाओं में इस विषय का यही एक पत्र है। 'बालहित' में समय समय पर प्रकाशित उनके लेखों का संग्रह आज पुस्तक के रूप में पाठकों के सामने है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाठक इस पुस्तक को बहुत ही उपयोगी पायेंगे।

१४, पारसी बागान लेन,
कलकत्ता।

श्री गिरीन्द्रशेखर बसु

भूमिका

मुझको इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि 'बच्चों की कुछ समस्याएँ' का द्वितीय संस्करण निकल रहा है। इस पुस्तक को मैंने पिछली लड़ाई के पूर्व लिखा था। इस लड़ाई में और इस लड़ाई के बाद समाज में और शिक्षा में एक नई क्रान्ति आ रही है। मेरा इरादा था कि इस पुस्तक को दुबारा लिखता या कम से कम जो कुछ नया परिवर्तन हो रहा है उसको ध्यान में रख कर इसको दोहराता, लेकिन इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण निकलने की खबर उस समय मिली जबकि मैं न्यूयॉर्क में दूसरे काम में व्यस्त था।

दिन बदिन शिक्षा-क्षेत्र में यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि बच्चों की समस्याएँ समाज की समस्याएँ हैं। जब तक समाज में आमूल परिवर्तन नहीं होता बच्चों की समस्याएँ नहीं हल हो सकतीं।

मुझे आशा है पाठक इस पुस्तक को अब इस दृष्टि से पढ़ेंगे।

विद्याभवन,
उदयपुर।
२८-१०-४७

कालूलाल श्रीमाली

दो शब्द

पाठकों के सामने इस पुस्तक को रखने में मुझे थोड़ा संकोच होता है। कारण यह कि इस पुस्तक में जो विचार बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में मैंने रखे हैं वे पाठकों को शायद एकदम नये और अद्भुत मालूम हों। शायद पाठक इस पुस्तक को पढ़कर नाक भौं सिकोड़ने लगें। पर सत्य तो सत्य ही है, चाहे वह कितना ही अप्रिय हो।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मनोविश्लेषण से शिक्षा को बड़ा लाभ हो सकता है। इसी दृष्टिकोण से बच्चों की कुछ समस्याओं पर मैं अपने विचार समय समय पर स्फुट लेखों के रूप में प्रकट करता रहा हूँ।

इस पुस्तक के सभी लेख 'बालहित' पत्र में प्रकाशित हुए हैं। कुछ मित्रों के आग्रह से ये स्फुट लेख इस पुस्तक-रूप में प्रस्तुत हैं। इस रूप में ये एक विचार-क्रम से सम्पादित हैं। मैं आशा करता हूं कि माता-पिताओं तथा शिक्षकों को इस पुस्तक से लाभ पहुंचेगा।

कलकत्ता युनिवर्सिटी के एक्सपेरिमेंटल साइकोलोजी विभाग के प्रमुख और भारतीय मनोविश्लेषण-समिति के प्रधान, डा० गिरीन्द्रशेखर बसु, एम० डी०, डी० एस सी०, का मैं विशेष कृतज्ञ हूं कि उन्होंने प्रकाशित होने के पहिले इस पुस्तक को देखने की और इसके लिए प्रस्तावना लिखने की कृपा की है।

इस पुस्तक को तैयार करने में मेरी सबसे बड़ी सहायता मेरे सहपाठी और परम मित्र श्री कृष्णानन्द जी, बनारस, ने की है। सत्य तो यह है कि कृष्णानन्द जी ने इस पुस्तक का केवल संशोधन ही नहीं,

सम्पादन भी किया है। उन्होंने मेरे विचारों को नया आकार दिया है। पारिभाषिक और विशेष शब्दों का सानुक्रम कोश भी उन्हीं ने तैयार किया है। उनके इस प्रेम-परिश्रम के लिए जितना धन्यवाद दूं उतना ही कम होगा। यह पुस्तक जैसे मेरी है वैसे ही उनकी भी है।

अन्त में दो और मित्रों की ओर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। उनमें से एक तो प्रो० हरिपद मैती, कलकत्ता युनिवर्सिटी, हैं जिन्होंने मुझको मनोविश्लेषण में दिलचस्पी दिलाई है; और दूसरे हैं डा० मोहनसिंह जी मेहता, उदयपुर, जो मेरे जीवन के साथी और पथ-प्रदर्शक रहे हैं। डा० मेहता ने इस पुस्तक को तैयार करने में कोई विशेष हाथ नहीं बँटाया, पर जो काम करने का मौक़ा उन्होंने मुझे दिया है उसी से मैं इस पुस्तक को पाठकों के सामने रखने में समर्थ हुआ हूँ। इस लिए इस पुस्तक का सबसे अधिक श्रेय उन्हें है।

मुझे आशा है कि पाठकों को मेरी यह तुच्छ सेवा स्वीकार होगी।

कालूलाल श्रीमाली

विषय-सूची

बच्चों की दुनिया

हम लोग अक्सर किसी आदमी के लिए कहते हैं कि वह दूसरी दुनिया में रहता है। इसका क्या अर्थ है? यह 'दूसरी दुनिया' कौन सी है? एक दुनिया तो यह है जिसमें हम लोग विचरते हैं, तरह-तरह के लोगों के साथ अपना नाता जोड़ते हैं और सुख-दुख भोगते हैं। यह दुनिया तो सभी लोगों के लिए एक है। पर इसके अलावा हर एक आदमी की एक अलग दुनिया होती है जहाँ वह कभी कभी चला जाता है।

हमारी दुनिया कुछ ऐसी ही बनी है कि हमारी सभी प्रबल इच्छाएँ इसमें पूरी नहीं हो पातीं। बात बात पर हमको हताश होना पड़ता है। हम किसी से प्रेम करते हैं, हमको प्रेम का बदला नहीं मिलता। हम धन और शक्ति का संचय करना चाहते हैं, संसार में हमें इसका अवसर नहीं मिलता। हम लोगों पर शासन करना चाहते हैं और लोगों से शासित होते हैं। इच्छायें हमारी स्वतन्त्र हैं, पर इष्ट वस्तु प्रायः हमारी पहुँच के बाहर होती है। आम के पेड़ पर पका हुआ फल देखकर इच्छा होती है कि उसको खा लिया जाय। पर वहाँ हाथ नहीं पहुँचता। लकड़ी या पत्थर से काम भी लिया जाय तो बगीचे के मालिक का डर रहता है। इस कारण इच्छा को दबाना पड़ता है। बिना फल खाये ही रहना पड़ता है। ऐसा ही हमारी दुनिया में होता है।

पर ये इच्छाएँ मर नहीं जातीं। स्वप्न तथा जाग्रत-स्वप्न की अवस्थाओं में ये पूरी होती रहती हैं। रात में तो हम सपना देखते ही हैं, पर दिन में जागते हुए भी सपना देखते रहते हैं। यह आपको देखना है तो सड़क के एक किनारे खड़े होकर देखिये। बहुत से लोग आपको ऐसे चलते हुए मिलेंगे जो इस दुनिया में नहीं होंगे, उनके पाँव आगे बढ़ते जा रहे होंगे पर उनको गाड़ी घोड़ों की आवाज़ और लोगों के इधर-उधर चलने का कुछ भी ध्यान नहीं होगा। मोटर का कभी ज़ोर से हार्न लग

जाय तो ऐसे लोग जैसे नींद से चौंक उठते हैं वैसे ही घड़बड़ा कर सड़क के किनारे दौड़ भागते हैं। उनके हाथ ऐसे हिलते रहते हैं जैसे किसी से बात-चीत कर रहे हों। जैसे उनके मन में तरह-तरह के भावों की लहरें उठती रहती हैं वैसे ही उनके चेहरों के रंग बदलते रहते हैं। कभी तो वे अपने आप ही मुस्कराते हैं, कभी गुस्सा करते हैं, और कभी कुछ गुनगुनाने लगते हैं। इस समय वे अपनी ही दुनिया में रहते हैं। जागते हुए वे सपने देखते हैं और उनमें अपनी इच्छाओं को पूरी करते हैं। सड़क पर चलता हुआ भिखमंगा भी अपनी दुनिया में राजा बनकर विचरता है।

ऐसे तो हर एक स्त्री पुरुष तथा बच्चे की अलग दुनिया होती है, क्योंकि हर एक के भाव, इच्छाएँ और अनुभव अलग अलग होते हैं। पर साधारणतः हम बच्चों की दुनिया को एक कह सकते हैं, क्योंकि कुछ बातें उसमें ऐसी निराली होती हैं जो बड़ों की दुनिया में नहीं होतीं।

बड़ा आदमी कितना ही इस दुनिया से अलग हो पर वह खयाली दुनिया और इस दुनिया के भेद को समझता है, झूठी और सच्ची दुनिया के फ़र्क़ को पहचानता है। पर ऐसा बच्चों के साथ नहीं होता। जब वे अपनी दुनिया में होते हैं तो मामूली डंडा उनके लिए घोड़ा हो जाता है। बच्चा डंडे ही को सच्चा

घोड़ा समझ लेता है। वह यह नहीं समझता कि डंडा और घोड़ा अलग अलग वस्तुएँ हैं। उस पर वह चाबुक लेकर सवार हो जाता है और मालूम नहीं थोड़ी सी देर में किन किन देशों में घूम आता है। जब मैं बच्चा था तब ऐसा ही एक खेल खेला करता था। मैं घर के दरवाजे पर खड़ा हो जाता और आने जाने वालों को निकलने नहीं देता जब तक वे मुझ से टिकिट नहीं खरीद लेते। टिकिट एक मामूली कागज के होते थे, पर आने जाने वालों के साथ मैं बड़ी सख्ती करता था— उतनी ही सख्ती जितनी कि एक रेलगाड़ी का गार्ड बाबू करता है। लोग अगर जबरदस्ती से जाना चाहते तो उनके साथ झगड़ा हो जाता।

हम लोग बच्चों की प्रकृति को न पहचान कर और उनकी खयाली दुनिया के नियमों को न जान कर उनकी बड़ी हानि करते हैं। बच्चे जब तक खयाली दुनिया में रहते हैं तब तक तो उनको वहाँ की सभी बातें सच्ची मालूम होती ही हैं, वहाँ से जब वे हमारी दुनिया में आते हैं तब भी उनके लिए वे बातें वैसी ही रहती हैं। इस दुनिया में भी डंडा उनके लिए घोड़ा ही रहता है, डंडा नहीं हो जाता। बच्चा यदि आकर अपने माता पिता से कहे कि वह घोड़े पर सवार होकर घूमने गया था तो वह झूठ नहीं, सच कहता है। वह लकड़ी के और वास्तविक घोड़े के भेद को नहीं समझता।

एक बच्चा बहुत ज्यादा ख़याली दुनिया में रहता है। उसने मुझसे और कई लोगों से एक बार कहा कि वह ड्रामा करने वाला है और उसे देखने को हम लोगों को भी बुलायेगा। उसने ड्रामा कभी नहीं किया और हमको कभी नहीं बुलाया। पर लड़के ने झूठा वादा नहीं किया; सच ही कहा। शायद उसने अपनी दुनिया में नाटक खेला और शायद उसके ख़याली थियेटर में देखनेवालों में हम भी थे। हाल ही में उसने मुझे कहा कि वह मेरे साथ होली खेलने आयगा और इसके लिए उसने समय भी नियुक्त किया। मैं जानता था कि वह नहीं आयगा और ऐसा ही हुआ। उसे होली खेलने के लिए मेरी जरूरत नहीं हुई। उस जरूरत को तो उसने अपने आपही पूरा कर लिया।

ऐसे तो हम लोग सभी मौक़े मौक़े पर ख़याली दुनिया में चले जाते हैं और वापस लौट आते हैं। पर २ वर्ष से लेकर ७ वर्ष तक के बच्चे इस दुनिया में बहुत अधिक और बहुत देर तक रहते हैं। इस अवस्था में बच्चों में कल्पनाशक्ति प्रधान रहती है। इस अवस्था में वे कितने ही नाटक रचते हैं—बड़े बड़े महल और क़िले बनाते हैं और बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़ते हैं। इस उम्र में उनके स्त्री और बच्चे भी हो जाते हैं जिनके पालन-पोषण का भार भी उन्हीं के ऊपर होता है। अपने ही साथियों में से वे किसी को स्त्री और किसी को बच्चा बना लेते हैं और उनके

साथ उनका वैसा ही व्यवहार होता है। साथी यदि न मिलें तो गुड़ियों से ही काम लिया जाता है।

बच्चों की दुनिया में एक चीज हमेशा के लिए वही नहीं बनी रहती। एक लकड़ी अभी घोड़े का काम दे रही है, कुछ ही देर में वह चाबुक बन सकती है और थोड़ी ही देर में वह जवान सिपाही का पिस्तौल बन जाती है, और फिर घोड़ा बन सकती है। इस दुनिया में तर्क के नियम नहीं चलते, समय और स्थान के बदलने का कोई असर नहीं होता, सच और झूठ, वास्तविकता और अवास्तविकता को अलग अलग करने की कोई जरूरत नहीं होती। बच्चा परमार्थ कुछ नहीं समझता, स्वार्थ ही उसके लिए सब कुछ होता है। वह यह समझता है कि दुनिया के सभी लोग और सभी चीजें उसके आराम के लिए हैं। इसी लिए बच्चा अपनी दुनिया का राजा कहलाता है।

ऊपर कहा गया है कि मनुष्य इस दुनिया से हताश होकर अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए ख़याली दुनिया अर्थात् काल्पनिक जगत् में चला जाता है। मनुष्य में सृजन की, कुछ बनाने की, प्रवृत्ति भी होती है। इस दुनिया से भाग कर वह केवल अपना बचाव ही नहीं करता, कभी कभी इस बचाव के साथ साथ वह अपनी सृजनात्मक प्रवृत्ति को भी सन्तुष्ट करता

है। मनुष्य वास्तविकता से, इस दुनिया के कटु अनुभवों से भागता हर हालत में है। एक हालत में तो वह केवल अपना बचाव ही करता है। पर दूसरी हालत में वह कुछ सृजन का काम भी करता है। इसी सृजनात्मक प्रवृत्ति के कारण मनुष्य में आदर्शवादिता उत्पन्न होती है। साधारण बच्चे की दुनिया में और पागल की दुनिया में केवल यही अन्तर है। पागल सिर्फ इस दुनिया से भाग खड़ा होता है। साधारण बच्चा भी इस दुनिया से भागता है, पर भाग कर वह किसी सृजनात्मक कार्य में लग जाता है, अपने खयालों में वह कुछ करता या बनाता रहता है।

माता-पिता यह पूछेंगे कि क्या बच्चों का इस तरह खयाली दुनिया में रहना अच्छा है। अच्छे और बुरे का तो यहां सवाल ही नहीं उठता। ३ से ७ वर्ष की अवस्था में तो कल्पना-शक्ति ही प्रधान होती है। यदि और कहीं रुकावट न हो तो इस उम्र के पार होने पर बच्चे खयाली दुनिया और असली दुनिया के भेद को समझने लगते हैं और इन दोनों के बीच में माप तोल कर अपने जीवन को ऐसा बनाते हैं जिससे दोनों दुनिया से उनका अपना नाता बना रहे।

बच्चा यदि अवस्था बीत जाने पर भी असली दुनिया के मूल्य को भले प्रकार नहीं पहचान सकता है तो समझना चाहिये कि वह रोगी है, उसके जीवन में बड़े दबाव पड़े हैं और बड़े कटु

अनुभव हुए हैं जिनके कारण सदा के लिए उसने इस दुनिया से नाता तोड़ लिया है। ऐसे बच्चों का मन दर्जे में एकाग्र नहीं रहता। वे किसी धुन में लगे रहते हैं। वे बच्चों के साथ हँसते और खेलते-कूदते बहुत कम देखे जाते हैं। कहीं बैठते हैं तो अपने सिर घुटनों से लगा लेते हैं, चलते हैं तो आसमान के तारे गिनते चलते हैं।

ऐसे बच्चों का क्या करना चाहिये? बच्चों के मन की तरंगों को दबा डालने से तो उनका जीवन नीरस और निष्फल होजाता है। सृजनात्मक कार्य के लिए, कुछ बनाने के लिए तो ख़याली दुनिया में जाना ज़रूरी है। ताजमहल पहले शाहजहाँ की ख़याली दुनिया में बना होगा और बाद में संगमरमर के पत्थरों से इस दुनिया में। पर ख़याली दुनिया में सोचने ही से ताजमहल नहीं बन सकता था। उसके लिए पत्थर और चूना इत्यादि सामग्री आवश्यक थी। अतः ऐसे बच्चों के लिए जो ख़याली दुनिया में ही रहते हैं यह ज़रूरी है कि उन्हें असली दुनिया का पूरा महत्त्व मालूम हो। उनका जीवन तभी सुखमय हो सकता है।

बच्चों को केवल बुलाकर यह कह देने से कि देखो! तुम्हारी ख़याली दुनिया झूठी है, तुमको असली दुनिया में आ जाना चाहिये, क्योंकि इसी में तुमको रहना और काम करना है,

उनका भला नहीं हो सकता। ऐसा कहने से वे और भी अधिक हताश हो जायँगे। बच्चे को खयाली दुनिया से उतारने का तरीक़ा यह है कि हम लोग उसके मन की तरंगों के बारे में उससे बात-चीत करें। बात-चीत करने से वह शीघ्र ही उस खयाल को छोड़ देगा और धीरे धीरे असली दुनिया में रहने लगेगा।

असली दुनिया हो चाहे खयाली, एक ही प्रवृत्ति के बहाव में बहने से जीवन सुखमय नहीं हो सकता। ऐसा होने से मन में बराबर क्लेश बना रहता है। जीवन सुखमय तो तभी होता है जब सभी इच्छाओं में मेल हो। ऐसा होने पर ही असली दुनिया और खयाली दुनिया के बीच की खाड़ी पर पुल बन सकता है और इस पुल के बनाने में बड़े आदमी बच्चों की सहायता कर सकते हैं— यदि उनमें सूझ और सहानुभूति हो और वे बच्चों की दुनिया को जानते हों।

बच्चों के खेल और खिलौने

हम सभी बच्चों को खेलते हुए देखते हैं, पर हममें से बहुत कम लोग जानते हैं कि बच्चा खेलता क्यों है। साधारण स्वास्थ्य के छोटे बच्चों की दिनचर्या को यदि हम देखें तो वह तीन मुख्य क्रियाओं—सोने, खाने और खेलने—में पूरी हो जाती है। सोना और खाना तो शरीर के लिए आवश्यक है। बिना सोये, खाये शरीर बना नहीं रह सकता। पर यह हम अच्छी तरह से नहीं जानते कि बच्चा खेलता क्यों है। हमारे जीवन के विकास और वृद्धि में खेल क्या काम करता है, इसको समझने के पहले हमको यह देखना पड़ेगा कि खेल के क्या लक्षण हैं।

खेल उसे कहते हैं जिसमें बच्चा अपने भीतर से उठी हुई प्रेरणा से कोई काम करता है और उस काम का लक्ष्य उस काम को छोड़कर और कुछ नहीं होता। एक ही काम एक व्यक्ति के लिए 'काम' और दूसरे के लिए 'खेल' हो सकता है। हमारे बगीचे में जो मजदूर काम करता है वह उस काम को खेल नहीं समझता, मजदूरी समझता है। मैं जब अपने बगीचे में वही काम करता हूँ तो उसको मजदूरी न समझकर खेल समझता हूँ। मेरी और मजदूर की मानसिक वृत्ति में क्या अन्तर है? एक ही काम उसके लिए मजदूरी और मेरे लिए खेल किस तरह हो जाता है। मेरे और मजदूर के काम में अन्तर यह है कि मैं जब अपने बगीचे में काम करता हूँ तो मेरे सामने बगीचे में काम करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा लक्ष्य नहीं होता। मैं जिस तरह चाहूँ अपने बगीचे को हरा-भरा कर दूँ और चाहूं तो तहस-नहस कर दूँ। जब मुझे कोई पौधा पसन्द नहीं आता तो उसको उखाड़ देता हूं और उसकी जगह दूसरा लगा लेता हूं। मजदूर ऐसा नहीं कर सकता। मेरे बिना कहे वह एक टहनी को भी इधर उधर नहीं हटा सकता। उसको उसके काम में कोई रुचि नहीं होती। वह तो पैसों के लिये काम करता है और हर वक्त उसका ध्यान घण्टे की ओर रहता है। घण्टा। बजते ही वह अपनी कुदाली फेंक कर चल देता है और यदि काफी

निगरानी न हो तो वह बहुत सा वक्त अपनी चिलम फूंकने में लगा देता है। मुफ्त में बगीचे में काम करने की प्रेरणा होती है। मजदूर में ऐसी न कोई प्रेरणा ही होती है और न लगन ही; वह तो पेट भरने के लिये काम करता है।

अब यह स्पष्ट होगा कि खेल में एक तो खुद ही भीतरी प्रेरणा होती है और दूसरे खेल के बाहर कोई और लक्ष्य नहीं होता।

जीवन में खेल नितान्त आवश्यक है। बिना खेल के जीवन भारमय हो जाता है। लोक-नीति के अनुसार मनुष्य को अपनी बहुत सी इच्छाएँ दबानी पड़ती हैं। मन की दबी हुई इच्छाएँ अपना एक अलग गिरोह बना लेती हैं, जिसे 'अज्ञात मन' कहा जाता है। ये दबी हुई इच्छाएँ हर वक्त प्रकट होने का मौका ढूंढ़ती रहती हैं। सोने पर स्वप्न द्वारा तथा जागने पर कल्पना और खेल द्वारा ये प्रकट होती रहती हैं। मनुष्य का सारा उद्योग अपने आपको अपने वातावरण के अनुकूल बनाने में लगा रहता है। यही उसके जीवन का संग्राम है। पर जब अपनी इच्छ-

है। वहाँ उसको किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती। उस काल्पनिक जगत् में उसकी इच्छाएँ अपने वास्तविक रूप में नहीं प्रकट होतीं वरन् कोई सूक्ष्म रूप धारण करके आती हैं। सूक्ष्म रूप उस जगत् का मुख्य लक्षण है।

बच्चा जब खेलता है तो वह वास्तविक जगत् में नहीं, अपने काल्पनिक जगत्, खयाली दुनिया, में रहता है। पर उसके लिए वह काल्पनिक जगत् उतना ही सच्चा है जितना कि हमारा वास्तविक जगत्। खेल द्वारा वह अपनी दबी हुई इच्छाओं को प्रकट करता है। इसको स्पष्ट करने के लिए एक दो उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) एक चार पाँच वर्ष का बच्चा अपने हाथ में छोटी सी नक़ली पिस्तौल लेकर अपने मकान के सामने इधर उधर टहला करता था। उससे अगर कोई पूछता कि तुम क्या कर रहे हो तो वह फ़ौरन जवाब देता कि सन्तरी पहरा लगा रहा है।

"सन्तरी पहरा लगा रहा है!" इस पहरा लगाने में बच्चे के भावुक जीवन का सारा रहस्य भरा हुआ था। इस बच्चे के जीवन की बीती बातों से पता लगा कि वह बहुत सुखी नहीं था। उसके जन्म से ही उसके माता पिता में बड़ी अनबन थी। पिता ने उसकी माँ को कई बार मारा पीटा भी। इसका परिणाम यह हुआ कि माता अपने बच्चे को छोड़ कर अपने मैके चली।

गई। तब से बच्चा अपने पिता ही के पास रहता था। यह बच्चा अपने माता-पिता के प्रेम से हठात् वंचित कर दिया गया था। इस अपराध को बच्चा आसानी से क्षमा नहीं कर सकता था। पाठक अब यह समझ सकेंगे कि यह सन्तरी किसका पहरा दे रहा था, किस व्यक्ति का इसको डर था।

(२) एक दूसरा पांच वर्ष का बच्चा, जो हमारे नर्सरी स्कूल में है, एक खेल खेला करता है। इस खेल में वह स्वयं तो डाक्टर बन जाता है और दूसरे सब बच्चों को लिटा देता है। फिर वह उनकी आँखों का आपरेशन करता है और पट्टी बाँधता है। कभी इन्जेक्शन भी लगाता है।

आपरेशन करने का एक ऐसा खेल है जिसमें खिलाड़ी दूसरे पर वार करता है पर उस वार का उसको पश्चात्ताप नहीं होता, बल्कि खुशी ही होती है, क्योंकि खिलाड़ी यह समझता है कि वह दूसरे का दर्द मिटाने के लिए चीरा लगा रहा है। अतः बिना किसी पश्चात्ताप के बालक दूसरे पर वार करता है और इस प्रकार अपनी हिंसात्मक प्रवृत्ति को शान्त करता है।

(३) हमारे नर्सरी स्कूल की एक बच्ची एक दूसरी बच्ची की मोटर ले लेती है और अपने आपको बहू समझकर उसमें बैठ जाती है। मोटर में बैठकर वह अपने मकान पर पहुँचती है और अन्य लड़कियों से कहती है कि उसके लिए पर्दा करें, जैसे

कि उसकी माँ के लिए घर पर पर्दा किया जाता है। वह बच्ची अपनी माँ का स्थान लेना चाहती है और अपनी उस इच्छा को इस प्रकार प्रकट करती है।

माँ-बाप बनने का खेल बच्चे साधारणतः खेला करते हैं। एक बच्चा माँ बन जाती है, मिट्टी और रेत के तरह तरह के भोजन बनाती है, बड़े चाव से घरवालों को खाना परोसती है और किसी बच्चे को अपना पति भी बना लेती है। इसी तरह बच्चा बाप बनकर खेलता है। प्रत्येक बच्ची-बच्चे की यह सहज कामना होती है कि वह माता-पिता का स्थान ले।

इन खेलों से यह लाभ होता है कि बच्चे को अपनी दबी-हुई इच्छाओं को प्रकट-करने-का-मौक़ा मिलता है। उसे अपने भाई-बहिनों के ऊपर क्रोध आता है और जब आसानी से वह उन्हें डांट या पीट नहीं पाता तो खेल में नक़ली भाई-बहिन बनाकर उनकी मनमानी ताड़ना करता है। इसी तरह वास्तविक जगत् में वह जिन चीज़ों से डरता है उनसे अपने खेल में वह बदला निकाल लेता है। वह शेर से डरता है पर खेल में शेर के कान पकड़ कर उस पर सवार हो जाता है। बच्चा खेल द्वारा अपने दबे हुए भावों को प्रकट करके अपना बोझ हल्का करता है और अपने विकास में आगे बढ़ता है।

खेल से बच्चे के केवल भावों का विकास ही नहीं होता,

उनके साथ उसके शरीर का और बुद्धि का विकास भी होता है। खेल में बच्चा अपने हाथ-पांव हिलाता है, इससे उसके शरीर के प्रत्येक अंग तथा इन्द्रिय का विकास होता है। साथ ही काल्पनिक खेलों में वह अपनी बुद्धि भी बराबर काम में लाता है। एक खेल खेलने के लिए उसे कितना ही प्रबन्ध करना पड़ता है। ऊपर कहे हुए एक खेल में हमारे छोटे 'डाक्टर' को आपरेशन करने के लिए कितनी ही तैयारियाँ करनी पड़ीं। उसको अपना चाकू तेज करना पड़ा, पानी गरम करना पड़ा, पट्टियाँ बटोरनी पड़ीं और उसके बाद पट्टियों को बड़ी होशियारी से बाँधना पड़ा। यह सब करने में बच्चे को बहुत सोचना पड़ता है। वह अपने खेल में अपना सारा दिल और दिमाग लगा देता है और उस खेल में उसको जो विचार करना पड़ता है उसका प्रभाव उसकी बुद्धि के विकास पर पड़े बिना नहीं रहता। इस कारण यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि खेल से बच्चे के शरीर, बुद्धि और भावों के विकास में बड़ी सहायता मिलती है। जो बच्चा खेलता नहीं है और हाथ-पाँव हिला नहीं सकता है उसे तो रोगी समझना चाहिये। प्रायः ऐसे बच्चे के भाव खींच-तान में और उधेड़ बुन में लगे रहते हैं। इसी कारण वह मुरझाया सा रहता है और इसी कारण खेल में उसकी तबीयत नहीं लगती। बच्चों के इस रोग के निवारण का सब से

सरल और सीधा उपाय यह है कि खेल में उनका मन लगाया जाय। जब तक खेल में उनकी तबीयत नहीं लगती तब तक किसी काम में उनकी तबीयत नहीं लग सकती और वे सुस्त और मन्दबुद्धि होकर पड़े रहते हैं। अतः यह सिद्ध है कि खेल से बुद्धि का बड़ा सम्बन्ध है।

खेल और शिक्षा

माता-पिता और शिक्षक साधारणतः यह समझते हैं कि खेल और शिक्षा में कोई सम्बन्ध नहीं है। पढ़ाई को वे काम समझते हैं और उसके लिए अलग समय नियत करते हैं। बच्चों के खेलने पर वे उतना जोर नहीं देते जितना कि उनकी पढ़ाई पर। खेल को वे समय की बरबादी समझते हैं और उससे बच्चों को रोकने की कोशिश करते हैं। इसी दूषित दृष्टिकोण का यह फल है कि बच्चे अपनी पढ़ाई से और काम से इतना जी चुराते हैं। यदि माता-पिता और शिक्षक विचार से काम लें तो शिक्षा भी बच्चों के लिए खेल हो सकती है। बच्चे तब स्कूल से जी नहीं चुराएंगे और पढ़ाई में उतना ही जी लगाएंगे जितना कि खेल में वे लगाते हैं।

ऐसा करने का उपाय एक ही है और वह यह कि बच्चों में पहले पढ़ाई के लिए रुचि पैदा की जाये। एक बार जिस बात में

बच्चे की रुचि हो जाती है फिर उस बात को जानने के लिए वह अपने आप ही कोशिश करने लगता है। आज कल जैसा हमारी पढ़ाई का ढंग है उसको बच्चे भार समझते हैं। छुट्टी का दिन उनके लिये बड़ी खुशी का दिन होता है। एक बार लड़कों को दर्जे में देखिये और फिर उन्हें बाहर देखिये। बहुत भिन्न दृश्य दिखाई देगा। दर्जे में ऐसा मालूम होता है जैसे उन पर मुर्दनी छाई हुई हो। और जब वे वहाँ से बाहर होते हैं तो उनमें एक नई स्फूर्ति और नई जान पड़ी हुई मालूम होती है। यदि हम स्कूल का ढंग बदल दें तो दर्जे में भी वैसी ही जान नजर आये जैसी कि खेल के मैदान में आती है।

मनुष्य का सारा जीवन और उसके जीवन का सारा काम खेल के ही ढंग पर हो तो वह कितना सुखी हो जाये। उसमें प्रतिभा और नई नई सृजनात्मक शक्तियाँ जागृत हों, नई नई कलाएँ और नये नये वैज्ञानिक आविष्कार दिखाई दें; क्योंकि कलाकार अपने काम को खेल ही समझते हैं। किसी चित्रकार के चित्र खींचने में और बच्चे के मिट्टी के खिलौने बनाने में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही प्रकार के काम हैं। दोनों में आन्तरिक प्रेरणा होती है और दोनों के काम के बाहर कोई और लक्ष्य नहीं होता।

कुछ लोगों का ख्याल है कि पढ़ाई भी बच्चों के लिए खेल

हो जायेगी तो उनमें कोई चरित्र नहीं बनेगा। वे समझते हैं कि खेल में बच्चों को मेहनत नहीं करनी पड़ती और उनमें इस कारण कोई चरित्रबल तथा संयम नहीं आ सकता। बच्चों को खेल में कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती है, यह समझना बड़ी भूल है। बच्चा जब किसी खेल में अपना जी लगा देता है तो वह अपनी धुन में खाना, पीना और सोना सब कुछ भूल जाता है। क्या बच्चा इस तरह संयमी नहीं बनता और क्या उसमें इस तरह चरित्र-बल नहीं बढ़ता है?

माता-पिताओं और शिक्षकों को यह नियम बना लेना चाहिये कि जब बच्चा इस तरह के किसी काम में लगा हो तो जहाँ तक हो सके उसके काम में बाधा न पहुँचाएँ। बच्चे को जबरदस्ती उसके काम से हटा कर तो हम उसकी बड़ी हानि करते हैं। बच्चा इससे बड़ा क्रुद्ध होता है और इससे उसकी शक्ति बड़ी क्षीण होती है। हम लोग यदि उसकी सहायता करना चाहते हैं और यदि उसके जीवन का भला चाहते हैं तो हम एक किनारे खड़े रहें और उसके खेल को देखते रहें। जब उसे जरूरत पड़े तो उसे थोड़ी सी सहायता पहुँचा दें। हमको बिना मांगे अपनी राय नहीं देनी चाहिये और अपनी योजना हठात् उस पर नहीं लादनी चाहिये। इससे बच्चे की उपज और जिम्मेदारी कम हो जाती है। और काम में उसकी काफ़ी दिलचस्पी नहीं रहती।

बच्चों के खिलौने

बच्चों के खिलौने कैसे होने चाहियें ? यह समस्या हर एक माता-पिता के सामने उपस्थित होती है। साधारणतः बच्चों को बहुत खिलौनों की जरूरत नहीं होती। बच्चा तो सारी दुनिया को टटोलना चाहता है। वह नई नई चीजों की खोज में रहता है। वह एक दो गुड़ियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह घूर घूर कर सब चीजों को देखता है और आसमान में चाँद और तारों तक को पकड़ना चाहता है। कोई भी नई चीज उसने देखी तो उसे वह अपने क़ाबू में करना चाहता है। अपनी ७ महीने की बच्ची को मैंने कुछ खिलौने दे रखे हैं। जब उसे पहले ये खिलौने दिये गये तब तो बड़े चाव से वह उनसे खेली, पर धीरे धीरे उन खिलौनों में उसकी दिलचस्पी कम होती जाती है। वह नई चीजों को पकड़ना चाहती है। कभी किसी कागज को पकड़ती है, कभी बूट के तस्मों पर झपटती है, तो कभी चाबियों के गुच्छे को पकड़ने दौड़ती है। रसोईघर में जब वह जाती है तो थाली कटोरी और चम्मच आदि से खेला करती है। बच्चे को खिलौने देना अच्छा है, पर यह समझना कि बच्चा खिलौनों के अलावा और चीजों को नहीं छूएगा या उसको नहीं छूना चाहिये, बड़ी भूल है।

खिलौने उम्र के साथ बदलते रहना चाहियें। पहले और दूसरे महीनों में बच्चे को किसी खास खिलौने की जरूरत नहीं

होती। इस उम्र में बच्चे का ध्यान अपनी इन्द्रियों तथा अपने शरीर के आकार की ओर रहता है। बच्चा दिन भर अपने हाथ-पाँव हिलाता रहता है और मुँह से 'गटरगूँ' की आवाज़ करता रहता है। यही उसके लिए खेल होता है। तीसरे महीने में बच्चे का ध्यान वस्तुओं की ओर जाता है और उनको वह छूना चाहता है। इस उम्र में एक मोटे मणियों की माला बच्चों के लिये बड़ी आनन्दप्रद होगी। मणियाँ सुहावनी और कड़ी होनी चाहियें और इतनी बड़ी होनी चाहियें कि बच्चा उनको निगल न सके पर अच्छी तरह से इधर उधर हिला सके।

चौथे महीने के लिए भी इसी तरह के खिलौने चाहियें। इस महीने में बच्चे का बहुत सा समय मुँह से और होठों से तरह तरह की आवाज़ करने में व्यतीत होता है। इसी महीने में बच्चा मुँह से बुदबुदे भी उड़ाता है और इस क्रिया में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। पांचवें और छठे महीनों में बच्चा वस्तुओं को बहुत पकड़ना और उठाना चाहता है। इन महीनों के लिये मणियाँ और आवाज़ करने वाले डब्बे और अन्य वस्तुएँ जो आसानी से धुल सकें, साफ़ हो सकें और जो बहुत खुर्दरी न हों, जैसे चम्मच और प्याले, अच्छे खिलौने हैं। इस समय सख्त काग़ज़ जिसके कोने बहुत तेज़ न हों और जो मुँह में रखा जा सके, आवाज़ करने वाला कोई खिलौना, लकड़ी के या ऐलमु-

बच्चों के खिलौने

बच्चों के खिलौने कैसे होने चाहियें ? यह समस्या हर एक माता-पिता के सामने उपस्थित होती है। साधारणतः बच्चों को बहुत खिलौनों की जरूरत नहीं होती। बच्चा तो सारी दुनिया को टटोलना चाहता है। वह नई नई चीजों की खोज में रहता है। वह एक दो गुड़ियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह घूर घूर कर सब चीजों को देखता है और आसमान में चाँद और तारों तक को पकड़ना चाहता है। कोई भी नई चीज उसने देखी तो उसे वह अपने क़ाबू में करना चाहता है। अपनी ७ महीने की बच्ची को मैंने कुछ खिलौने दे रखे हैं। जब उसे पहले ये खिलौने दिये गये तब तो बड़े चाव से वह उनसे खेली, पर धीरे धीरे उन खिलौनों में उसकी दिलचस्पी कम होती जाती है। वह नई चीजों को पकड़ना चाहती है। कभी किसी काग़ज़ को पकड़ती है, कभी बूट के तस्मों पर झपटती है, तो कभी चाबियों के गुच्छे को पकड़ने दौड़ती है। रसोईघर में जब वह जाती है तो थाली कटोरी और चम्मच आदि से खेला करती है। बच्चे को खिलौने देना अच्छा है, पर यह समझना कि बच्चा खिलौनों के अलावा और चीजों को नहीं छूएगा या उसको नहीं छूना चाहिये, यही भूल है।

खिलौने उम्र के साथ बदलते रहना चाहिये। पहले और दूसरे महीनों में बच्चे को किसी खास खिलौने की जरूरत नहीं

होती। इस उम्र में बच्चे का ध्यान अपनी इन्द्रियों तथा अपने शरीर के आकार की ओर रहता है। बच्चा दिन भर अपने हाथ-पाँव हिलाता रहता है और मुँह से 'गटरगूँ' की आवाज करता रहता है। यही उसके लिए खेल होता है। तीसरे महीने में बच्चे का ध्यान वस्तुओं की ओर जाता है और उनको वह छूना चाहता है। इस उम्र में एक मोटे मणियों की माला बच्चों के लिये बड़ी आनन्दप्रद होगी। मणियाँ सुहावनी और कड़ी होनी चाहियें और इतनी बड़ी होनी चाहियें कि बच्चा उनको निगल न सके पर अच्छी तरह से इधर उधर हिला सके।

चौथे महीने के लिए भी इसी तरह के खिलौने चाहियें। इस महीने में बच्चे का बहुत सा समय मुँह से और होठों से तरह तरह की आवाज करने में व्यतीत होता है। इसी महीने में बच्चा मुँह से बुदबुदे भी उड़ाता है और इस क्रिया में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। पांचवें और छठे महीनों में बच्चा वस्तुओं को बहुत पकड़ना और उठाना चाहता है। इन महीनों के लिये मणियाँ और आवाज करने वाले डब्बे और अन्य वस्तुएँ जो आसानी से धुल सकें, साफ हो सकें और जो बहुत खुर्दरी न हों, जैसे चम्मच और प्याले, अच्छे खिलौने हैं। इस समय सख्त कागज जिसके कोने बहुत तेज न हों और जो मुँह में रखा जा सके, आवाज करने वाला कोई खिलौना, लकड़ी के या सेल्यू-

मीनियम के चम्मच, फल और तरकारियाँ जो मुँह में रखी जा सकें, जैसे नारंगी, बैंगन, इत्यादि इन वस्तुओं को बच्चे पसन्द करने लगते हैं। ये खिलौने और कुछ लकड़ी की हल्की ईंटें और जानवरों की तसवीरें चौदह महीने तक के बच्चे के लिए काफ़ी हैं। लकड़ी की ईंटें, लकड़ी की गाड़ियाँ और नावें, छोटे मुलायम छल्ले और ऐसे खिलौने जिनको इधर उधर घसीटा जा सके, दो वर्ष तक के बच्चे को दिये जा सकते हैं। और दो वर्ष के बाद नर्सरी स्कूल में जो खिलौने होते हैं वे सब काम में लाये जा सकते हैं।

बच्चे को ऐसे खिलौने नहीं देने चाहियें जिनको वह आसानी से तोड़ सके, क्योंकि इस तरह उसमें तोड़ने की आदत पड़ जायगी। खिलौने काफ़ी मज़बूत और सुन्दर होने चाहियें और ऐसे होने चाहियें कि जिनसे बच्चा अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा कुछ बना सके। इस प्रकार उसमें सृजनात्मक शक्तियाँ बढ़ेंगी और भविष्य में वह संसार में जाकर बनायेगा अधिक, और बिगाड़ेगा कम। आजकल के संसार में खिलाड़ी कम हैं, इसी से चीज़ें बनाई तो कम जाती हैं, बिगाड़ी ही अधिक।

बच्चों में भय

भय प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष का, चाहे वह वृद्ध हो या युवा, साधारण लक्षण है। डरना कायरता का लक्षण समझा जाता है और समाज इसे बुरा मानता है। इस लिए लोग भय को दबाते हैं। बहुत से युवक छाती ठोककर अपनी मित्र-मण्डली में यह कहते हैं कि वे किसी से भी नहीं डरते। पर जब कभी अँधेरे में नये या शून्य स्थान में उन्हें जाना पड़ता है तो उनके पाँव नहीं टिकते। किसी पुरुष के बारे में कहा जाता है कि वह आत्महत्या करने के लिए किसी तालाब के किनारे खड़ा हुआ था। वह गोता लगाने वाला ही था कि उसने चीते की गर्जना सुनी। सुनते ही वह पास के एक पेड़ पर चढ़ गया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि भय मनुष्य का साधारण लक्षण है।

इनके अतिरिक्त और जितने भी भय के प्रकार हैं वे प्रसंग से तथा सिखाने से उत्पन्न होते हैं। डा० वाट्सन के कथन में कितना सत्य है यह तो अनुभव से तथा प्रयोगों द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। पर यह बात स्पष्ट है कि बच्चों में जितने डर होते हैं वे सभी जन्म से नहीं होते हैं। माता-पिता तथा अन्य लोग बच्चों को तरह-तरह से डराते हैं। बच्चा जब चिल्लाता है तो उससे कहा जाता है कि 'चुप हो! नहीं तो तुझे बिज्जू पकड़ ले जायेगा।' जब वह कुछ बड़ा होता है तो उसे भूत प्रेत इत्यादि अनेक भयावनी वस्तुओं से डराया जाता है। जब कुछ और बड़ा होता है और उसकी बुद्धि का कुछ विकास होने लगता है तो उसे नरक का ज्ञान कराया जाता है जहाँ पापी लोगों को तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। बच्चा तो ऐसे ही पाप के भाव से दबा रहता है, पर जब उसे नरक का ज्ञान कराया जाता है तो उसमें कायरता तथा मानसिक दुर्बलता आ जाती है और वह हर एक काम के करने में डरता है, चाहे वह बुरा हो या भला।

बच्चा जब बहुत भयभीत होता है तो उसका सारा बदन खिंच जाता है, उसकी क्रिया-शक्ति बिलकुल स्थिर हो जाती है, जोर जोर से साँस चलने लगती है, बोली बन्द जाती है, चेहरा पीला पड़ जाता है, बदन पसीना-पसीना हो जाता है और मूत्र

मिट जाती है। मामूली डर की हालत में बच्चा अपने आप को खींच लेता है, कभी कभी भाग खड़ा होता है और कभी करुण स्वर में सहायता के लिये चिल्ला उठता है। यह कोई नई बात नहीं है। सभी माता-पिता इससे परिचित होंगे। भय से जब बच्चों की ऐसी दशा होती है तो मैं समझता हूँ कि कोई भी माता-पिता अपने बच्चों को इस दशा में पहुँचाना नहीं चाहेंगे। क्रिया-शक्ति के बन्द होने का नाम मृत्यु है और भय से क्रिया शक्ति हत हो जाती है। अनजान में हम बच्चों को डरा कर उनकी क्रिया-शक्ति का ह्रास करते हैं और उनके जीवन के विकास में सहायक बनने के बजाय घातक बनते हैं।

क्या बच्चों का भय दूर करने में माता-पिता सहायक हो सकते हैं? मेरा विश्वास है कि असाधारण भय को छोड़कर और सभी भय, यदि बच्चों के साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाये तो, मिटाये जा सकते हैं।

एक साधारण उपाय बच्चों का भय मिटाने का यह है कि भय के कारण उनके शरीर में जो तनाव हो जाता है उसको ढीला पड़ने दें। यदि बच्चा भयोत्पादक वस्तु के बारे में बात-चीत करे, अपने अनुभव का वर्णन करे, उसके बारे में हँसे, कूदे और उसका अनुकरण करे तो भय का भूत भाग जाता है और शारीरिक तथा मानसिक तनाव कम हो जाता है। उदाहरण

के लिए, यदि बच्चों को भूत-प्रेत का भय लगता हो तो उन्हीं में से एक ही को भूत बनाया जावे और किसी तरह का उनसे इसका नाटक कराया जाय तो यह भय कम हो जायगा।

भय मिटाने का एक उपाय यह भी है कि जिन स्थितियों में बच्चों को भय मालूम होता हो उन्हीं स्थितियों में अधिक उम्र वाले बच्चे तथा स्त्री-पुरुष भय न दिखायें। जब छोटे बच्चे अपने से अधिक उम्र वाले बच्चों तथा स्त्री-पुरुषों को निर्भय देखेंगे तो वे भी उनका अनुकरण करने लगेंगे।

माता-पिता तथा शिक्षक भयोत्पादक वस्तु की तथा स्थिति की व्याख्या करके अथवा बच्चों को यह बताकर कि वैसी स्थिति में क्या करना चाहिये, बच्चों का भय मिटा सकते हैं। एक बच्चे के बारे में कहा जाता है कि वह जोर की किसी भी तरह की आवाज से डरता था और खास कर पटाखों की आवाज सुनकर रो पड़ता था। एक बड़ी उम्र के लड़के ने, जो इस तरह नहीं डरता था, उससे कहा कि रोने के बजाय आवाज सुनकर वह कूदा करे। उस बच्चे को यह बात जच गई और बाद में उसने वैसा ही करना शुरू किया। इसके बाद उसके शिक्षक ने भिन्न भिन्न प्रकार के शब्दों की उसके सामने व्याख्या की और उससे कहा कि पटाखा तो केवल कागज का बना हुआ होता है और उसके टुकड़े टुकड़े किये जा सकते हैं, और उसको ऐसा ही

करके दिखाया। इसके बाद उस बच्चे को जोर की आवाज से कभी डर नहीं लगता था। यदि बच्चे को नई स्थिति में अपनी शक्ति का अनुमान तथा विश्वास हो जाय तो उसे भय की जगह जिज्ञासा उत्पन्न होती है और उसे उस स्थिति में हर्ष होता है। स्थिति का पूर्णतया ज्ञान होने से ही भय कम होता है और भावों में विकार नहीं रहता। बुद्धि का विकास तो आयु बढ़ने पर होता ही है पर इसमें माता-पिताओं तथा शिक्षकों की सहानुभूति तथा सहायता की बराबर आवश्यकता होती है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण में बताया गया है।

बालक जब थका हुआ हो, उसे कोई रोग हो, रोग की उत्पत्ति हो रही हो अथवा रोग का नाश हो रहा हो, नींद नहीं आती हो, पहिले से चित्त व्यग्र हो, पहिले से भयभीत अथवा खिन्न हो तो ऐसी अवस्था में उसके डर जाने की अधिक संभावना होती है। जब इन कारणों से बच्चा डरता हो तो सब से पहिले उसकी शारीरिक अवस्था पर ध्यान देना चाहिये और उसको स्वस्थ बनाना चाहिये। उसके बाद भी यदि भय न दूर हो तो दूसरे उपाय ढूँढने चाहियें।

बच्चों को जहां तक हो सके शान्त वातावरण में रखना चाहिये। माता जब बच्चे को झूले में झुलाती है और साथ मधुर गीत गाती है तो बच्चे के मन पर बड़ा अच्छा प्रभाव

पड़ता है। झूला यदि जोर से नहीं हिलाया जाये (जोर से हिलाने में बच्चे के कोमल मस्तिष्क में चोट पहुँच सकती है) और उसके साथ साथ मधुर गीत गाया जाये तो इससे बच्चे के जीवन में लय उत्पन्न होता है। आधुनिक मनोविज्ञान में लय का बड़ा मूल्य माना गया है। कुछ विक्षिप्त ऐसे वैसे गये हैं जो लय में लीन होकर अच्छे हो गये हैं। बच्चे भी ऐसे वातावरण में रक्खे जायं जिसमें वे लय में लीन हो रहें तो उनके जीवन में भय बहुत कम होगा और उनका जीवन आनन्दमय होगा, क्योंकि प्रकृति में लय का सिद्धान्त प्रधान है।

चिढ़नेवाला बच्चा

एक बच्चा जब से स्कूल में आया है क़रीब क़रीब रोज मेरे पास शिकायत लाता है कि उसे लड़के चिढ़ाते हैं। जब लड़के उसे चिढ़ाते हैं तब वह बहुत दुःखी होकर मेरे पास आता है। मैं उसे सान्त्वना देता हूँ और कहता हूँ कि चिढ़ानेवालों से मैं कह दूँगा कि उसे न चिढ़ायें। कभी-कभी चिढ़ानेवालों को डाँट भी देता हूँ। पर जाँच करने पर मैंने यह पता लगाया कि अकसर वह भी लड़कों को चिढ़ाता है। पर दूसरे लड़के इतने दुःखी नहीं होते जितना वह दुःखी होता है।

मैंने यह जानना चाहा कि यह बच्चा इतना चिढ़ता क्यों है और चिढ़ाने से इतना दुःखी क्यों होता है। एक दिन रोता-रोता यह मेरे पास आया। मैंने उससे पूछा, "तुम्हें लड़के क्या कहकर चिढ़ाते हैं?" उसने कहा, "मुझे कसाई कहते हैं। मैं कसाई नहीं हूं। मैं गाय नहीं खाता हूँ। आप चाहे मेरे भाई से पूछ लीजिये। मैंने गाय कभी नहीं खाई है। फिर मैं कसाई कैसे हुआ?" बच्चे के ये शब्द बड़े भावपूर्ण थे। 'कसाई' शब्द ने उसके दिल पर बड़ी गहरी चोट पहुँचाई थी। उसके चरित्र पर जो यह दोष लगा था उसे असह्य था और इसी कारण वह बहुत ही दुःखी था।

बच्चे का यह व्यवहार असाधारण था। चिढ़ाने को साधारण बच्चे प्रायः हँसी में टाल देते हैं। मुझे सन्देह हुआ कि इस बच्चे में जो यह पाप का भाव उत्पन्न हुआ है इसका कारण कुछ गहरा है। मैंने उससे और आगे पूछा, "क्या तुम्हें घर पर भी लोग चिढ़ाते थे?" उसने पहिले कहा, "नहीं"। फिर कुछ सोचकर उसने कहा, "हाँ, एक बार मैं एक कुएँ पर खड़ा था। वहाँ पर किसी गँवार का एक लड़का भी खड़ा था। उसने मेरी तरफ मुँह बनाया। मैं ज्योंही उसके पीछे दौड़ा, वह भागा। कुछ ही दूर आगे गया होगा कि वह फिसल पड़ा और उसके घुटनों में बहुत जोर से चोट लगी जिससे खून बहने

लगा। उसके रोने की आवाज़ सुनकर मेरे पिता जी दौड़े आये और उन्होंने मुझसे कहा, 'माफी माँगो, माफी माँगो, नहीं तो तुम्हें पुलिसवाले पकड़ ले जायेंगे।' मैं बहुत डर गया और मैंने उस लड़के से माफी माँग ली।" कुछ देर तक उससे और भी बातें होती रहीं पर इस सम्बन्ध की कोई विशेष बात नहीं निकली। उसने मुँह पर दोनों हाथ लगाकर कहा कि उसके पिता जी उसे बहुत पीटते थे।

उस बच्चे की आयु क़रीब सात आठ साल की है। उसे याद नहीं कि वह घटना कब हुई। पर मेरा विचार है कि शायद जब वह चार पाँच साल का होगा तब वह घटना हुई होगी। उसके चिढ़ने का उस घटना से विशेष सम्बन्ध है। यह कहना तो शायद सच नहीं होगा कि उसी घटना के कारण वह बच्चा चिढ़ाने से उतना दुःखी होता है, पर यह कहा जा सकता है कि पिता के इसी प्रकार के व्यवहारों के कारण बच्चे में अपराध तथा पाप का भाव बहुत ही बढ़ गया है उपर्युक्त घटना में बच्चे का कोई दोष नहीं था। उसे किसी गँवार के लड़के ने चिढ़ाया और यह स्वाभाविक ही था कि उसके बदले में वह उसे मारने को दौड़ता। उसके गिर पड़ने से और खून निकलने से बच्चा अपने आपको अपराधी समझने लगा ही था, पर पिता ने यह

कहकर कि 'माफी माँगो, नहीं तो तुम्हें पुलिस वाले पकड़ ले जायेंगे' बच्चे के मन में जमा दिया कि यही अपराधी है। अब हरएक काम के करने में डरता है कि कहीं वह पाप तो नहीं कर रहा है। जहाँ उसका अपराध नहीं होता है वहाँ भी वह अपने आपको अपराधी समझने लगता है। उसे चारों ओर पाप ही पाप दीखता है। यही कारण है कि 'कसाई' के नाम से वह इतना दुःखी होता है। वह अपने आपको अपने और बड़ों के सामने सदा बेकसूर साबित करना चाहता है। लड़के जब चिढ़ाते हैं, चाहे उनका बदला ले या न ले, वह मेरे पास जरूर आ जाता है। मेरी ओर उसकी पिता की तरह ही भावना है। उसे सदा डर रहता है कि कहीं मैं उसके पाप के भार को और न बढ़ा दूँ। इस लिये वह फौरन आकर कह देता है कि उसने नहीं चिढ़ाया है, दूसरे लड़के ही उसे चिढ़ाते हैं।

उस बच्चे का चिढ़ना तो असाधारण है, पर मौक़े मौक़े पर हम सभी चिढ़ जाते हैं। जब हम चिढ़ाये जाते हैं तो हमारा सर नीचा हो जाता है। हमारे 'मैं' को चोट पहुँचती है और इसी कारण हम दुःखी होते हैं। कमज़ोर तो रो पड़ते हैं और बलवान् चिढ़ाकर या कभी कभी मारपीट कर बदला ले लेते हैं। एक लड़के को लड़कों ने 'मस्ती' के नाम से चिढ़ाना शुरू किया। लड़का 'मस्ती' नहीं था। वह क्रिकेट का कप्तान था। उसने एक

दिन कुछ लड़कों को खेलने नहीं दिया। उन लड़कों में से एक ने कहा कि वह बड़ा 'खप्ती' है। बस इसी पर उसने चिढ़ना शुरू किया। एक दिन उसने एक बड़े लड़के को जो उससे कहीं अधिक बलवान् था क्रोध में आकर बेंत से इतनी बुरी तरह से मारा कि उसकी बेंत टूट गई। मैंने इस बारे में उससे बातचीत की। वह समझता था कि उसने उस लड़के को पीटकर कोई ग़लती नहीं की, बल्कि ठीक ही किया।

जो बच्चे चिढ़ते हैं उनका स्वभाव छुई-मुई सा कोमल होता है उनमें 'मैं' का भाव बहुत बढ़ा चढ़ा होता है। ज़रा ज़रा सी बात में उन्हें अपमान दिखाई देता है। चिढ़ प्रायः हमारी किसी दुर्बलता पर, चाहे वह शरीर की हो या मन की या चरित्र की, घनी होती है। हम में कितने ही दुर्व्यसन हों या हम कितने ही कुरूप हों, पर हम अपने मन में प्रायः यही सोचते हैं कि हम गुणी हैं तथा सुन्दर हैं। हम अपने आपको सब से अधिक प्रेम करते हैं। जब तक हममें कोई रोग न हो जाये, हम अपनी आँखों में सब से ऊँचे रहते हैं। हम अपने प्रिय जन की सदा प्रशंसा सुनना चाहते हैं। उनकी कोई बुराई करता है तो हमें बुरा लगता है। चिढ़ाने वाले हमारे सब से अधिय प्रिय 'मैं' पर आक्षेप करते हैं। इसी कारण हम बहुत दुःखी होते हैं और चिढ़ाने वाले से बदला लेना चाहते हैं। चिढ़ दो धार की तलवार

कहकर कि 'माफी माँगो, नहीं तो तुम्हें पुलिस वाले पकड़ ले जायेंगे' बच्चे के मन में जमा दिया कि वही अपराधी है। वह हरएक काम के करने में डरता है कि कहीं वह पाप तो नहीं कर रहा है। जहाँ उसका अपराध नहीं होता है वहाँ भी वह अपने आपको अपराधी समझने लगता है। उसे चारों ओर पाप ही पाप दीखता है। यही कारण है कि 'कसाई' के नाम से वह इतना दुःखी होता है। वह अपने आपको अपने और बड़ों के सामने सदा बेकसूर साबित करना चाहता है। लड़के जब चिढ़ाते हैं तब उनका बदला ले या न ले, वह मेरे पास जरूर आ जाता है। मेरी ओर उसकी पिता की तरह ही भावना है। उसे सदा डर रहता है कि कहीं मैं उसके पाप के भार को और न बढ़ा दूँ। इस लिये वह फौरन आकर कह देता है कि उसने नहीं चिढ़ाया है, दूसरे लड़के ही उसे चिढ़ाते हैं।

इस बच्चे का चिढ़ना तो असाधारण है, पर मौके मौके पर हम सभी चिढ़ जाते हैं। जब हम चिढ़ाये जाते हैं तो हमारा सर नीचा हो जाता है। हमारे 'मैं' को चोट पहुँचती है और इसी कारण हम दुःखी होते हैं। कमजोर तो रो पड़ते हैं और बलवान् चिढ़ाकर या कभी कभी मारपीट कर बदला ले लेते हैं। एक लड़के को लड़कों ने 'सखी' के नाम से चिढ़ाना शुरू किया। लड़का 'सखी' नहीं था। वह क्रिकेट का कप्तान था। उसने एक

दिन कुछ लड़कों को खेलने नहीं दिया। उन लड़कों में से एक ने कहा कि वह बड़ा 'खप्ती' है। बस इसी पर उसने चिढ़ना शुरू किया। एक दिन उसने एक बड़े लड़के को जो उससे कहीं अधिक बलवान् था क्रोध में आकर बेंत से इतनी बुरी तरह से मारा कि उसकी बेंत टूट गई। मैंने इस बारे में उससे बातचीत की। वह समझता था कि उसने उस लड़के को पीटकर कोई ग़लती नहीं की, बल्कि ठीक ही किया।

जो बच्चे चिढ़ते हैं उनका स्वभाव छुई-मुई सा कोमल होता है उनमें 'मैं' का भाव बहुत बढ़ा चढ़ा होता है। जरा जरा सी बात में उन्हें अपमान दिखाई देता है। चिढ़ प्रायः हमारी किसी दुर्बलता पर, चाहे वह शरीर की हो या मन की या चरित्र की, बनी होती है। हम में कितने ही दुर्व्यसन हों या हम कितने ही कुरूप हों, पर हम अपने मन में प्रायः यही सोचते हैं कि हम गुणी हैं तथा सुन्दर हैं। हम अपने आपको सब से अधिक प्रेम करते हैं। जब तक हममें कोई रोग न हो जाये, हम अपनी आँखों में सब से ऊँचे रहते हैं। हम अपने प्रिय जन की सदा प्रशंसा सुनना चाहते हैं। उनकी कोई बुराई करता है तो हमें बुरा लगता है। चिढ़ाने वाले हमारे सब से अधिय प्रिय 'मैं' पर आक्षेप करते हैं। इसी कारण हम बहुत दुःखी होते हैं और चिढ़ाने वाले से बदला लेना चाहते हैं। चिढ़ दो धार की तलवार

है। यदि हम नहीं चिढ़ते हैं और अपना क्रोध प्रकट नहीं करते हैं तो अन्दर ही अन्दर कुढ़े जाते हैं; यदि चिढ़ जाते हैं तो चिढ़ानेवाले को और भी अधिक चिढ़ाने का अवसर देते हैं। लोग भी चिढ़ाने वाले को इतना बुरा नहीं समझते जितना कि चिढ़ने वाले को। यह लोगों का अन्याय है। उन्हें यदि मालूम हो जाये कि चिढ़ाने वाला कितना मानसिक कष्ट पहुँचाता है तो शायद इस विषय में वे अपनी राय बदल दें।

चिढ़ने वाला बच्चा कौन सा होता है? रोग, धनाभाव, सामाजिक परिस्थिति या अन्य कारणों से बच्चा जब अपने आपको अपने साथियों से हीन समझने लगता है तो उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और वह चिढ़ने लगता है। चिढ़नेवालों में अक्सर लँगड़े, लूले, अन्धे, ग़रीब, रोगी, पागल और कमज़ोर बच्चे पाये जाते हैं। वे संसार के युद्ध में पिछड़ जाते हैं और इस कारण अपनी आँखों में भी गिर जाते हैं। बच्चे के लिये इससे अधिक दुखदायी बात और क्या हो सकती है कि वह अपने आपको और लोगों से नीचा समझने लगे। परिस्थिति ही बच्चों को इस दशा में पहुँचाती है और इसके लिये यदि देखा जाये तो अधिकतर समाज ही उत्तरदायी होता है। समाज इनको चिढ़ाता है और तमाशा भी देखता है। इससे अधिक निर्दयता और क्या हो सकती है?

बलवान् बच्चों को पहले तो कोई चिढ़ाता ही नहीं है। वे ही दूसरों को चिढ़ाते हैं। यदि किसी मौक़े पर उन्हें किसी ने चिढ़ा भी दिया तो इसका उनके ऊपर कोई असर नहीं होता। हर एक बच्चा किसी एक क्षेत्र में, चाहे वह पढ़ाई का हो या खेल का या केवल शारीरिक बल का ही, बेजोड़ बनना चाहता है। उसके 'मैं' को सभी सुख और शान्ति मिलती है। एक बात में उसकी जीत हो फिर दूसरी बातों में वह चाहे कितना ही कमज़ोर हो, परवाह नहीं करता। उन बातों के लिये उसे कितना भी चिढ़ाया जाय, उस पर कोई असर नहीं होता।

यही बच्चों के चिड़चिड़ेपन को मिटाने का मूल मन्त्र है। हर एक बच्चे को ऐसा मौक़ा दीजिये कि वह अपनी जमा की हुई शक्ति को काम में ला सके और किसी न किसी रूप में अपने क्षेत्र का स्वामी बन सके। प्रत्येक बच्चे में कुछ न कुछ छिपी हुई प्रतिभा होती है। अवसर मिलते ही वह प्रकट होती है और उसी से बच्चा प्रतिभाशाली और शक्तिसम्पन्न बनता है। फिर उसे समाज कितना भी चिढ़ावे, वह परवाह नहीं करता। उसके 'मैं' को इस बात का सन्तोष रहता है कि वह अपने घर का मालिक है। सभी जगहों का और सभी स्थितियों का तो उसने ठेका लिया नहीं है।

चिढ़नेवाले बच्चे प्रेम के भी भूखे होते हैं। ये बच्चे अवश्य चिढ़चिढ़े स्वभाव के होते हैं जिनकी माता-पिता कभी परवाह नहीं करते। घर में अक्सर तीन चार बच्चे होते ही हैं। माता-पिता सब को बराबर प्यार नहीं करते। सब से कम प्यार किया जाने-वाला बच्चा अक्सर चिढ़चिढ़े स्वभाव का होता है। क्योंकि प्रेम भी शक्ति है। जब बच्चों को प्रेम मिलता है तो वे अपने को बड़े शक्तिसम्पन्न समझते हैं। जब उनका प्रेम छिन जाता है तो वे अपने को कमजोर समझने लगते हैं, अपनी आँखों में गिर जाते हैं और इसी कारण चिढ़चिढ़े स्वभाव के हो जाते हैं। ऐसे बच्चों के साथ एक बार फिर प्रेम और सहानु-भूति का व्यवहार कीजिये तो ये संभल सकते हैं।

चिड़चिड़े बच्चे स्वभाव से कुछ अकेले रहना पसन्द करते हैं। समाज उनके साथ बुरा व्यवहार करता है, इसलिये वे उससे अलग ही रहना चाहते हैं। अपने साथियों से उन्हें ऐसी घृणा हो जाती है कि जहाँ पाँच छः लोग इकट्ठे हों वहाँ से वे भागना ही चाहते हैं। उनके जीवन में प्रेम का सोता सूख जाता है और वहाँ घृणा अपना स्थान जमा लेती है। उन्हें अलग छोड़ देने में समाज की भलाई नहीं है। क्योंकि ये बिना कुछ किये ऐसे ही तो बैठे नहीं रह सकते हैं। उनके दिल में घृणा की आग जलती रहती है और समय पाने पर वह भड़क उठती है।

इससे समाज का बड़ा अहित हो सकता है। इस लिये समाज को चाहिये कि अपने किये को संभाले और ऐसे व्यक्तियों को अपने में मिला ले। इसका उपाय यह है कि उन्हें ऐसी जिम्मेदारी का काम दिया जाय जिससे उनका अपने साथियों से मिलना अनिवार्य हो जाय, बिना अपने साथियों से मिले उनका काम ह न चले।

सभ्य समाज तो वही है जिसमें एक भी मनुष्य दुःखी न हो। चिढ़नेवाले बच्चे को चिढ़ाकर और उसे सदा के लिये दुःखी बनाकर क्या हम अपने आपको सभ्य कह सकते हैं ?

चिढ़नेवाले बच्चे प्रेम के भी भूखे होते हैं। वे बच्चे अवश्य चिड़चिड़े स्वभाव के होते हैं जिनके माता-पिता काफ़ी परवाह नहीं करते। घर में अक्सर तीन चार बच्चे होते ही हैं। माता-पिता सब को बराबर प्यार नहीं करते। सब से कम प्यार किया जाने-वाला बच्चा अक्सर चिड़चिड़े स्वभाव का होता है। क्योंकि प्रेम भी शक्ति है। जब बच्चों को प्रेम मिलता है तो वे अपने को बड़े शक्तिसम्पन्न समझते हैं। जब उनका प्रेम छिन जाता है तो वे अपने को कमज़ोर समझने लगते हैं, अपनी आँखों में गिर जाते हैं और इसी कारण चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं। ऐसे बच्चों के साथ एक बार फिर प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार कीजिये तो वे संभल सकते हैं।

चिड़चिड़े बच्चे स्वभाव से कुछ अकेले रहना पसन्द करते हैं। समाज उनके साथ बुरा व्यवहार करता है, इसलिये वे उससे अलग ही रहना चाहते हैं। अपने साथियों से उन्हें ऐसी घृणा हो जाती है कि जहाँ पाँच छः लोग इकट्ठे हों वहाँ से वे भागना ही चाहते हैं। उनके जीवन में प्रेम का सोता सूख जाता है और वहाँ घृणा अपना स्थान जमा लेती है। उन्हें अलग छोड़ देने से समाज की भलाई नहीं है। क्योंकि ये बिना कुछ किये ऐसे ही तो बैठे नहीं रह सकते हैं। उनके दिल में घृणा की आग जलती रहती है और समय पाने पर यह भड़क उठती है।

इससे समाज का बड़ा अहित हो सकता है। इस लिये समाज के चाहिये कि अपने किये के संभाले और ऐसे व्यक्तियों के अपने में मिला ले। इसका उपाय यह है कि उन्हें ऐसी जिम्मेदारी का काम दिया जाय जिससे उनका अपने साथियों से मिलना अनिवार्य हो जाय, बिना अपने साथियों से मिले उनका काम ह' न चले।

सभ्य समाज तो वही है जिसमें एक भी मनुष्य दुःखी न हो। चिढ़नेवाले बच्चे के चिढ़ाकर और उसे सदा के लिये दुःखी बनाकर क्या हम अपने आपको सभ्य कह सकते हैं ?

चिढ़ानेवाला बच्चा

पिछले प्रकरण में मैंने चिढ़नेवालों के भावों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यहाँ सूक्ष्म रूप से चिढ़ानेवाला चिढ़ा कर जिन इच्छाओं की और जिन भावों की पूर्ति करता है उनके दिग्दर्शन का प्रयत्न किया जायेगा। यह लेख क़रीब १२५ बच्चों के चिह्न के आधार पर लिखा गया है।

प्रेम और घृणा दोनों ही मनुष्य की प्रकृति के अङ्ग होते हैं। जैसा सुख प्रेम करने में हमें मिलता है वैसा ही घृणा करने में

भी। दोनों ही में हम अपनी प्यास बुझाते हैं। साधारणतया हममें दोनों भाव समतोल में रहते हैं। पर कुछ लोगों में घृणा का स्थान प्रधान हो जाता है। ऐसे लोगों को दूसरों पर निर्दयता करने में बड़ा सुख मिलता है। प्रेम का स्रोत इनके हृदय में सूख जाता है और घृणा ही घृणा रह जाती है।

पानी में कूदते हुए मेंढक पर पत्थर मारने वाले बच्चे को बड़ा मजा मिलता है। मेंढक ने बच्चे का कुछ बिगाड़ा नहीं होता। वह तो निरपराध जीव है। पर तब भी बच्चा उसे मारता है। बच्चे के लिए यह निरा खेल है। पर यह ऐसा खेल है जिसमें दूसरे पर आघात होता है। इस खेल में बच्चा अपनी हिंसात्मक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करता है।

चिढ़ाना भी एक ऐसा ही खेल है। इस खेल में खिलाड़ी दूसरे को तकलीफ पहुँचाकर खुश होता है। चिढ़ानेवाले को खुशी होती है, चिढ़नेवाले को नहीं। चिढ़ एक ऐसी मार है कि इसमें मार खाने वाला आह भी नहीं भर सकता। आह भरे तो उसे और भी अधिक लज्जित होना पड़े।

प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई दुर्बलता होती है। पर वह इस बात का सदा प्रयत्न करता है कि उस दुर्बलता को छिपाये। काले रंगवाले जब लोगों के सामने जाते हैं तो पाउडर लगा लेते हैं। हम अपना सच्चा रूप लोगों को नहीं दिखाना चाहते।

चिढ़ानेवाला हमारे सच्चे रूप को लोगों के सामने खोल देता है। दूसरे को दुखी करने का सब से अच्छा तरीका यही है। चिढ़ प्रायः ऐसी ही दुर्बलता के आधार पर बनी होती है जिसे हम छिपाना चाहते हैं। नीचे दिये हुए कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

१— एक बच्चे की नाक बहती है। उसकी नाक में शायद कुछ रोग है। लड़के अब उसको 'सेबड़' कहकर चिढ़ाते हैं।

२— एक बच्चे की आँखें कुछ खराब हैं। उसे लड़के 'काना' कहकर पुकारते हैं। इसी प्रकार के एक दूसरे लड़के को उन्होंने 'काना नवाब' नाम दे रखा है।

३— एक बच्चे की टाँग खराब है। उसे लड़के 'लँगड़ा' कहकर चिढ़ाते हैं। कभी कभी उसे 'इस्तरी' भी कहते हैं। क्योंकि उसके लँगड़े पाँव का जूता धोबी की इस्तरी से बहुत मिलता जुलता है।

४— एक लड़का कुछ अधिक मोटा है और उसका पेट निकला हुआ है। लड़कों ने उसे 'तोंदू' नाम दे रखा है। इसी तरह एक दूसरे लम्बे लड़के को 'ऊँट' तथा 'रेगिस्तानी जहाज' कहते हैं। एक दूसरे दुबले-पतले और लम्बे लड़के का नाम 'बच्चा कर्ण' है जो 'घण्टाघर' का दूसरा रूप है।

५— एक लड़के की नाक पर दाद हो रही है। और वह किताबें बहुत अधिक पढ़ता है। लड़के उसे 'सड़ियल टट्टू' कह कर चिढ़ाते हैं।

६— एक लड़के का मुँह कुछ विशेष लाल है। लड़के उसे 'लाल मुँह का बन्दर' कहते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे लड़के को, जिसका मुँह कुछ बेतुका है, लड़के 'बन्दर' तथा 'शिम्पाञ्जी' कहकर चिढ़ाते हैं।

७— एक लड़के के सिर में गोलाकार सफ़ेद दाद हो रहा रहा है। लड़कों ने उसका नाम फ़ौरन 'अठन्नी' रख दिया।

इसी तरह केवल लड़कों ही के नहीं, शिक्षकों के भी नाम लड़के रख लेते हैं। 'क्यूरेट', 'कार्टून', 'गांठ्या', 'औरङ्गज़ेब', 'चश्मुद्दीन', 'डाकिन', 'चौबे जी' इत्यादि उनमें से कुछ हैं।

जितनी भी चिढ़ें होती हैं उनमें घृणा का अंश तो होता ही है, पर उनमें बच्चे अपनी कल्पनाशक्ति बहुत काम में लाते हैं। कभी कभी ये एक ही शब्द में बड़ा अच्छा चरित्र-चित्रण कर देते हैं। किसी शिक्षक को तथा मनोवैज्ञानिक को किसी बच्चे के चरित्र के बारे में रिपोर्ट लिखना पड़े तो शायद उसे घण्टों लग जायँ और कितने ही पृष्ठ भरने पड़ें। पर बच्चे ढूँढ़कर एक ऐसा शब्द निकालते हैं जिससे उसके सारे चरित्र का चित्र खिंच जाता है।

एक लड़के का नाम कुछ लड़कों ने 'खटमल' रखा। खटमल के जो गुण होते हैं प्रायः वे सभी गुण उस लड़के में विद्यमान थे। इसी तरह एक दूसरे लड़के का नाम उन्होंने 'मक्कार' रखा। इस एक ही शब्द में उस लड़के का पूरा चित्र खिंच जाता है। एक और लड़के का नाम 'हब्शी' या 'भील' रखा गया। जिस गन्दी तरह से वह लड़का रहता है उसके लिए इससे अधिक उपयुक्त दूसरा नाम नहीं हो सकता था। इससे भी अधिक चतुराई लड़कों ने एक लड़के का नाम 'लालमिर्च' रखने में दिखाई। जो लोग उस लड़के के स्वभाव से परिचित हैं वे भले प्रकार समझ सकते हैं कि इस नाम के रखने में लड़कों ने कितनी होशियारी दिखाई और वे मनुष्य के स्वभाव को तथा उसके चरित्र को कितनी अच्छी तरह समझ लेते हैं। पाठकों को उस लड़के के स्वभाव से परिचित करने के लिए मैं केवल एक ही उदाहरण दूँगा। एक लड़का एक बार पेशाब कर रहा था। वह लड़का उसके पीछे चुपके से गया और उसने उस पेशाब करते हुए लड़के को उलट दिया और भाग गया। क्या 'लाल मिर्च' ऐसे लड़के के लिए उपयुक्त नाम नहीं है ? शब्द-चित्रण के ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

इसके अलावा बच्चे कभी कभी चिढ़ाने के लिए कविता भी बनाते हैं। उसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

१— ········· भाई, बड़े कसाई।
उड़ती चिड़िया, मार खिलाई॥
२— आधी रोटी, आधी दाल।
खाले बेटा, ················॥
सड़ियल रोटी, सड़ियल दाल।
खाले बेटा, ··············॥

दूसरी कविता का बड़ा गूढ़ रहस्य है। दो भाइयों में से बड़ा भाई जबर्दस्त है। दोनों के लिए घर से भोजन शामिल आता है। बड़ा भाई कभी कभी भोजन पहिले कर लेता है और बचा खुचा छोटे को दे देता है। इसी पर छोटे पर यह कविता बनी और बड़े का नाम लड़कों ने 'पिशाच' रक्खा। बड़े में और भी कुछ गुण ऐसे हैं जिनसे उसे यह नाम दिया गया।

कभी कभी चिढ़ रखने में लड़के बड़ी सूझ और हँसी की शक्ति दिखाते हैं। एक लड़के के ताँगे को खच्चर चलाता है। लड़के इस बात को देखे बिना नहीं रहे और फ़ौरन उन्होंने उसका नाम 'खच्चर गदहा' रख दिया। एक मुसलमान लड़के का नाम उन्होंने 'गुरु जी' तथा 'गुरु घंटाल' रखा है। इसे लड़के जब पहले चिढ़ाते थे तब यह 'खुश रहो बच्चा' कहा करता था। इस पर लड़कों ने इसका नाम 'गुरुजी' तथा 'गुरु घंटाल' रख दिया। इसी तरह एक लड़का क़द में लम्बा है और रहन-

सहन में कुछ बुजुर्ग की तरह जँचता है। लड़कों ने उसका नाम 'खलीफा हारूँ रशीद' रख दिया।

बच्चों के कामों के मतलब समझने के लिए हमें उनकी इच्छाओं को समझना होगा। हमारे काम तो केवल हमारी इच्छाओं के फल हैं। इच्छाएँ कभी हमारी जान में होती हैं, कभी अनजान में। पर कोई भी काम बिना इच्छा के नहीं होता।

बच्चे चिढ़ाने में बहुत कौशल दिखाते हैं। इससे यह साफ पता लगता है कि इसमें वे अपने हृदय की किसी बहुत बड़ी इच्छा को पूरी करते हैं। बिना हृदय की कोई बहुत बड़ी इच्छा जाग्रत हुए बच्चे अपना इतना ध्यान और शक्ति चिढ़ाने में नहीं लगा सकते। एक ही शब्द में मनुष्य के सारे चरित्र का चित्रण कर देना कोई आसान बात नहीं है। यह एक कला है। पर चिढ़ाना एक ऐसी कला है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरे पर आघात करता है। चित्रकारी में कार्टून बनाना तथा मनुष्य को बहुरूपिया बना देना एक दूसरी ऐसी ही कला है। ऐसी कलाओं के द्वारा दूसरों के प्रति मनुष्य अपने घृणा के भावों को प्रकट करता है। पर जब किसी की चिढ़ निकालना है तब यह जरूरी नहीं है कि यह उसी व्यक्ति के प्रति घृणा रखता हो।

प्रेम और घृणा तो सदा अपने आधार ढूँढ़ते ही रहते हैं। जो भी पात्र उपयुक्त मिल गया उसी को वे पकड़ लेते हैं। प्रेम और घृणा किसी एक व्यक्ति से उत्पन्न होते हैं। पर सदा उसी व्यक्ति को वे अपना आधार नहीं बना सकते। उस हालत में वे सरल से सरल मार्ग से दूसरा पात्र ढूँढ़ते हैं और उसी को अपना लक्ष्य बना लेते हैं।

कई बार हम किसी पदार्थ से प्रेम और घृणा करते हैं। पर यह नहीं जानते कि हम उससे प्रेम और घृणा कर रहे हैं। प्रेम और घृणा करने में कई बार हम अपने आपको अपराधी समझने लगते हैं और हमको रोकने के लिये अन्दर से एक आवाज उठती है और वही हमारी इच्छाओं को दबा देती है। इच्छाएँ तब किसी दूसरे रूप में प्रकट होती हैं। चिढ़ाने-वाला यह नहीं जानता कि चिढ़ाकर केवल वह अपनी घृणा की आग को शान्त कर रहा है। पर मनुष्य-व्यवहार को समझने वाला कोई भी व्यक्ति यह समझ सकता है कि यह घृणा ही का फल होता है।

प्रेम और घृणा एक दूसरे में बदलने वाले होते हैं। आज का प्रेम कल घृणा में बदल जा सकता है और कल की घृणा आज प्रेम का रूप ले सकती है। प्रेम का प्रतिदान न दीजिये, वही प्रेम आपको घृणा के रूप में डसेगा।

माता-पिता और शिक्षक यदि चाहें तो अपने सद्व्यवहार से बच्चों की घृणा की प्रकृति को आसानी से प्रेम में बदल सकते हैं। चिढ़ाने में बच्चों का ध्यान प्रायः कुरूपता की ओर जाता है और उनकी सारी शक्ति मनुष्य को नीचा दिखाने में खर्च होती है। संसार सुन्दर पदार्थों से भरा पड़ा है। हम उन सुन्दर पदार्थों को स्वयं देखें और उनका ध्यान भी उस ओर खींचें तो बहुत कुछ घृणा का भाव उनमें कम हो जायेगा। हम सुन्दरता के पुजारी हों, हम में बराबर प्रेम के भाव उमड़ते हों तो बच्चा भी हमारा अनुकरण करेगा। सुन्दरता और प्रेम के वातावरण में पले हुए बच्चे में सुन्दरता और प्रेम के भाव ही प्रधान होंगे।

घृणा का भाव जड़ से तो तभी उखड़ सकता है जब हम उसका कारण खोज निकालें और बच्चों को घृणा उपजाने वाली स्थिति का बोध करायें इसके लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी मनोवृत्ति को भले प्रकार समझें।

बच्चों से यदि हम प्रेम की भावनाएँ जाग्रत कर सकें तो संसार कितना सुखमय हो जाये।

पिछड़नेवाला बच्चा

प्रत्येक शिक्षक के सामने कक्षा में पिछड़नेवाला बच्चा एक बड़ी समस्या होता है। पिछड़नेवाला बच्चा वह होता है जो अपने वय के बच्चों से कुछ कारणों से पढ़ाई में पिछड़ा रहता है। पिछड़नेवाले बच्चों की अगर हम जांच करें तो हमें पता लगेगा कि वे एक तरह के नहीं होते हैं। बच्चों के पिछड़ने के कई कारण होते हैं और भिन्न भिन्न बच्चों के भिन्न भिन्न कारण होते हैं। इन बच्चों को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है— बुद्धिदोष और स्वभावदोष। बुद्धिदोष वाले बच्चों के और विश्लेषण किये जायें तो वे विशेषतः चार प्रकार के होते हैं—

१— हीनबुद्धि बच्चे— जिनकी साधारण बुद्धि जन्म ही से ऐसी खराब होती है कि वे अपना आपा बिल्कुल ही नहीं सँभाल सकते हैं। ऐसे बच्चे मामूली स्कूलों में कुछ नहीं सीख सकते हैं और बाद में भी वे अपने जीवन में आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं को पूरी करने में बिल्कुल असमर्थ होते हैं।

२— मन्दबुद्धि बच्चे— जिनकी साधारण बुद्धि जन्म ही से खराब होती है। वे हीनबुद्धि बच्चों की तरह आपाहीन नहीं होते हैं और स्कूलों में थोड़ी सी उन्नति कर सकते हैं, पर वे साधारण बुद्धि वाले बच्चों से बहुत पिछड़े रहते हैं।

३— केवल पढ़ाई में पिछड़े हुए बच्चे— जिनकी बुद्धि में जन्म से कोई खराबी नहीं होती पर कुछ कारणों से उनमें दोष आ जाता है।

४— विशेष दुर्बलतावाले बच्चे— जिनकी खराबी साधारण नहीं, विशेष होती है। ऐसे बच्चे बहुत कम होते हैं।

शिक्षक को यह कैसे मालूम हो कि बच्चा कैसी बुद्धि का है? इसके लिये उसे किसी मनोवैज्ञानिक की सहायता लेनी चाहिये। मनोविज्ञान ने शोध करके ऐसे जाँच करने के परीक्षे खोज लिये हैं जिनसे बच्चे की मानसिक बय का पता लगाया जा सकता है। ये परीक्षाएँ सधारण परीक्षाओं से भिन्न होती हैं, क्योंकि इनमें मनोवैज्ञानिक उस साधारण बुद्धि को नापता है जो जन्म

से ही बच्चे को प्राप्त होती है और जो नई नई स्थितियों में उसकी सहायता करती है। मनोवैज्ञानिक जानता है कि वय के साथ साथ बुद्धि का भी विकास होना चाहिये और हजारों बच्चों की परीक्षा करने से यह भी जानता है कि किस वय के साथ कितनी बुद्धि होनी चाहिये। अगर अपनी उम्र से बच्चे में ज्यादा बुद्धि है तो उसे अधिक-बुद्धि कहेंगे और कम बुद्धि है तो उसे न्यूनबुद्धि कहेंगे।

बच्चे की स्कूल में पढ़ाई और भविष्य जीवन में उन्नति बहुत कुछ साधारण बुद्धि पर निर्भर रहती है। बुद्धि के नापने पर जो बच्चे हीनबुद्धि और मन्दबुद्धि निकलें उन्हें तो साधारण स्कूलों में बहुत सहायता नहीं मिल सकती है। उनके लिए विशेष स्कूल खोले जाने चाहियें।

हम यहाँ विशेषतः उन बच्चों का विचार करेंगे जिनकी बुद्धि साधारण है फिर भी वे पढ़ाई में पिछड़े रहते हैं। इस तरह के बच्चों के पढ़ाई में पिछड़ने के क्या कारण हैं? पहिले हम इसके कारण बच्चों के वातावरण में ढूँढेंगे। बच्चों के वातावरण में स्कूल और घर प्रधान हैं। स्कूल में पिछड़ने के दो कारण हो सकते हैं— एक तो बच्चे का बराबर गैरहाजिर रहना और दूसरा स्कूल में पढ़ाई का खराब होना। स्कूल में गैरहाजिर रहने का एक कारण तो बच्चे की बीमारी हो सकता है। स्वास्थ्य अच्छा

न रहने से वह बराबर पिछड़ता रहता है। शिक्षक उसकी बीमारी की ओर ध्यान नहीं देता पर कुछ दिन बाद उसे मालूम होता है कि बचा पिछड़ा हुआ है। बच्चे की बीमारी के अलावा कभी कभी उसकी गैरहाजिरी के कारण माता-पिता भी होते हैं। कभी कभी तो माता-पिता व्यर्थ ही बच्चों को घर पर रोक लेते हैं। जो पिता नौकरीपेशा होते हैं उनका एक शहर से दूसरे शहर में तबादला होता रहता है और इस कारण वे अपने बच्चे को भी एक स्कूल से दूसरे स्कूल में बदलते रहते हैं। इससे भी बचों की पढ़ाई में बड़ा नुक़सान पड़ता रहता है और बच्चे अपनी उम्रवाले बच्चों से पढ़ने में बराबर पिछड़े रहते हैं। हमारे स्कूल में पढ़ने वाले एक बच्चे के पिता पहले हमारे शहर में नौकर थे। उनका तबादला हो जाने से उन्हें अपने बच्चे को दूसरे स्कूल में ले जाना पड़ा। तीन वर्ष के बाद फिर वे हमारे शहर में आ गये। बच्चा पहले पाँचवें दर्जे में पढ़ता था। उसे अब तक आठवें दर्जे में होना चाहिये था, पर वह मुश्किल से छठे दर्जे के योग्य है। इस तरह यह बचा दो साल पिछड़ गया है।

स्कूल में पिछड़ने का कारण शिक्षकों के पढ़ाने का ख़राब ढंग भी हो सकता है। हमारे देश में अधिकतर स्कूलों में बच्चे पर व्यक्तिगत ध्यान नहीं दिया जाता है। हरएक बच्चे को भिन्न भिन्न विषयों में भिन्न भिन्न कठिनाइयाँ होती हैं। इसलिए यह

आवश्यक है कि स्कूल में व्यक्तिगत ध्यान दिया जाय और पढ़ाई का ढंग बच्चों के लिए रोचक हो। व्यक्तिगत ध्यान देने से ही शिक्षकों को यह पता लगेगा कि कौन से लड़के पिछड़े हुए हैं और उनके पिछड़ने के क्या क्या कारण हैं।

घर की स्थिति का भी बच्चे की पढ़ाई पर बहुत असर पड़ता है। अगर बच्चे के माता-पिता ग़रीब हैं, उसे स्वास्थ्यप्रद भोजन नहीं दे सकते हैं, रात को सोने के लिए उसे शान्त और काफ़ी आराम की जगह नहीं मिल सकती है, तो ज़रूर उसके स्कूल की पढ़ाई में बाधा पहुँचेगी। और फिर ग़रीब माता-पिता को अपने धन्धे के सिवा और कुछ नहीं सूझता। पिता नौकरी से या अपने काम से इतना थका हुआ लौटता है कि उसे घर में बातचीत करने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती। दुनिया के बारे में उसका ज्ञान इतना कम होता है कि अपने धन्धे को छोड़ अपने घर के किसी दूसरे विषय में उसकी रुचि ही नहीं रहती। माता को अपने बर्तन मलने से, चूल्हे-चक्की से और लड़ने-झगड़ने से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। इस तरह के घर के वातावरण में पला हुआ बच्चा दुनिया के उस साधारण ज्ञान से बिल्कुल ही वञ्चित रहता है जो कि अमीर माता-पिता के घर में बच्चे को आसानी से बातचीत ही में मिल जाता है। शिक्षित और सभ्य माता-पिता घर में दुनिया के भिन्न भिन्न विषयों पर बात-

विकास मानसिक विकास से २-३ वर्षों तक तो बहुत ही सम्बद्ध रहता है, पर आगे जाकर बराबर शरीर का मन पर प्रभाव पड़ता दिखाई देता है। उदाहरण के लिए बच्चे का क़द और उसका वज़न लीजिये। जो बच्चे बुद्धि में तीव्र होते हैं वे अधिकतर क़द में लम्बे होते हैं और शरीर से पुष्ट होने के कारण वज़न में भी अपनी उम्र के लिए ज्यादा मोटे होते हैं। क़द और वज़न के अलावा बच्चों के दाँत निकलने के समय का भी बच्चों की बुद्धि के विकास से बड़ा सम्बन्ध है। जिन बच्चों की बुद्धि हीन या मन्द होती है उनके पहिले और दूसरे दाँत देर से आते हैं और वे युवावस्था में भी देर से पहुँचते हैं, उनमें कामेच्छा बहुत देर से जाग्रत होती है। ये सब बातें यही सिद्ध करती हैं कि बच्चे के शारीरिक और मानसिक विकास में बड़ा घना सम्बन्ध है।

साधारणतया लोग यह समझते हैं कि जो बच्चा शरीर से दुर्बल होता है उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र होती है और वह पढ़ने में भी होशियार होता है। ऐसा विचार करने वालों का ख्याल है कि शक्ति का उपयोग एक ही तरफ हो सकता है, चाहे वह शरीर की वृद्धि में हो, चाहे मन के विकास में। पर यह लोगों का केवल भ्रम है। जिन लोगों ने इस विषय में खोज की है वे जानते हैं कि शरीर की वृद्धि और मन का विकास, दोनों का

बड़ा घना सम्बन्ध है और दोनों साथ साथ होते रहते हैं। कहीं कहीं ऐसे उदाहरण भी पाये जाते हैं जो इस नियम के विपरीत होते हैं, पर वे असाधारण होते हैं। साथ ही यह भी बता देना आवश्यक है कि शारीरिक दुर्बलता बहुत कम में पिछड़ने का प्रधान कारण होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि जब बच्चे में मानसिक दुर्बलता होती है और उसकी बुद्धि मन्द होती है तब शारीरिक दुर्बलता उसके पिछड़ने का एक सहायक कारण हो जाती है।

शरीर की ख़राबियाँ और बीमारियाँ

कई ऐसी शरीर की ख़राबियाँ और बीमारियाँ हैं जो बच्चों की उन्नति को रोकती हैं। उनका यहाँ संक्षेप में ही वर्णन किया जा सकता है।

[१] सुनने में ख़राबी—

कान के द्वारा हम दुनिया का बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसमें अगर किसी तरह की ख़राबी हो जाती है तो हम उस ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। देखने से हम दुनिया की चीज़ों के गुणों को ही जानते हैं, पर सुनने से हम उनका सारा हाल मालूम करते हैं। यदि बच्चे के सुनने में किसी तरह ख़राबी हो जाय तो माता-पिता तथा शिक्षक को फ़ौरन उसका

पता लगा लेना चाहिये और उसका इलाज कराना चाहिये। वक्त पर इलाज न कराने से बीमारी बढ़ती जाती है।

बहरेपन की अलग अलग श्रेणियाँ हैं। कुछ तो बिल्कुल ही बहरे होते हैं जो कितनी भी ऊँची आवाज हो सुन नहीं सकते हैं और कुछ थोड़े बहरे होते हैं। कुछ लोगों का एक कान खराब होता है और कुछ के दोनों। कुछ ऊँची आवाज को सुन सकते हैं और कुछ साफ साफ कही हुई धीमी आवाज को।

यह तो स्पष्ट है कि बहरा अपनी कान की खराबी के कारण उतनी उन्नति नहीं कर सकता जितनी की साधारण बच्चा कर सकता है। पर बहरों को पढ़ाने के लिये विशेषज्ञ पढ़ाने वाले हों और उनके लिए खास स्कूल हों तो वे काफी तरक्की कर सकते हैं। हमारे देश में तो इस तरह के खास स्कूल इने गिने ही हैं। इस कारण हर स्कूल में कुछ बहरे या कम सुनने वाले तो होते ही हैं। ऐसे बच्चों पर शिक्षकों को विशेष ध्यान देना चाहिये और उन्हें ऐसी जगह बिठाना चाहिये जहाँ से वे शिक्षक की आवाज को अच्छी तरह से सुन सकें और उसके होठों के हिलने को तथा उनके चेहरे को अच्छी तरह से देख सकें। बहुत से बच्चे ऐसे होते हैं जो सुनते तो कम हैं पर बोलने वाले के होठों के हिलने को और उनके चेहरे के भावों को देखकर सारी बातें समझ जाते हैं।

माता-पिता और शिक्षक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यदि बच्चा कोई बात न समझे या बेसमझी के कारण कुछ बेवकूफी कर जाय तो उस पर हँसना नहीं चाहिये। बहरे की हँसी उड़ाने से वह और बेवकूफ बन जाता है।

जिस प्रकार आँखें कमजोर होने पर चश्मों से साफ देख सकते हैं उसी प्रकार ऐसे यन्त्रों का निर्माण होना चाहिये जिन्हें कानों पर लगाकर आसानी से सुन सकें। इस प्रकार के कुछ यन्त्र बनाये तो गये हैं पर वे बहुत अच्छे नहीं हैं और आसानी से मिल नहीं सकते हैं। पर आशा की जाती है कि इस विषय में काफी खोज की गई तो चश्मों की तरह कानों के लिए भी कुछ ऐसे यन्त्र बन सकेंगे जिन्हें लगाकर बहरे आसानी से सुन सकेंगे।

[२] बोलने में खराबी—

मनुष्य वाणी द्वारा संचित ज्ञान को प्रकट करता है और सीखता है। जिस प्रकार सुनना बच्चे के मानसिक विकास के लिए आवश्यक है उसी प्रकार बोलना भी उसके लिए आवश्यक है। जो बच्चे हीनबुद्धि होते हैं उनमें बोलने की खराबी प्रायः पाई जाती है और पिछड़नेवाले बच्चों में भी साधारणतया यह पाई जाती है।

बोलने की खराबियाँ दो प्रकार की होती हैं— एक तो साफ

न बोलना या नन्हे बच्चों की आवाज़ से बोलना, जैसे 'साल' को 'नाल' कहना, 'चक्कू' को 'तक्कू' या 'ससुर' को 'ददुर' कहना और दूसरा हकलाना, जैसे 'बहिन' कहने के बजाय 'ब' कह करके रुक जाना और देर के बाद 'हिन' कहना। कुछ हकलाने वाले ऐसे होते हैं जो एक ही शब्द को बार बार कहते हैं, जैसे 'बहिन' कहने में 'ब' 'ब' 'ब' कहते हैं और फिर एक दम से 'हिन' कहते हैं।

नन्हे बच्चों की तरह की बोली के कई कारण होते हैं और अलग अलग बच्चों के अलग अलग कारण होते हैं। जन्म से ही मन्दबुद्धि होना, बच्चे ही बने रहने की अज्ञात इच्छा रखना, वंश-परम्परा की बीमारी होना, शारीरिक बनावट में खराबी होना, बोलने की क्रियाओं की खराबी होना, कान की खराबी होना या शब्दों का ठीक तरह से मन में चित्र न उतरना— ये कुछ कारण हैं। इलाज करने से पहले यह आवश्यक है कि शिक्षक जान ले कि बच्चे में कौन सी खराबी है।

हकलाने के भी कई कारण होते हैं। वंश की खराबी होना, शारीरिक दुर्बलता या कोई बीमारी होना (जैसे जब बच्चा बोलना शुरू करे तब तक कोई बड़ी बीमारी — खसरा, काली खाँसी या डिफ्थीरिया या अन्य कोई बड़ी बीमारी —हो जाये), किसी भय, चिन्ता या अन्य किसी भाव से दबा रहना, और शब्दों का मन

में ठीक चित्र न उतरना, ये कुछ कारण हैं। अधिकतर बच्चों में हकलाने का कारण किसी भाव से दबा रहना होता है, जैसे अज्ञात भय से या चिन्ता से ग्रस्त रहना या और लोगों के सामने बोलने से डरना।

बोलने की खराबी— नन्हें बच्चों की तरह बोलना और हकलाना— कैसे दूर की जा सकती है? यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि इसका इलाज करना किसी डाक्टर का काम नहीं है। यह शिक्षक या मनोवैज्ञानिक का काम है। सब से पहले तो यह आवश्यक है कि बच्चे में अगर कोई शारीरिक खराबी या बीमारी है तो उसे दूर किया जाय और उसके बाद उसका मानसिक उपचार किया जाय जिससे उसकी बुद्धि में तथा भावों में जो दोष आ गये हैं वे दूर हो सकें। इसी के साथ बोलने की अन्य क्रियाओं को, जैसे साँस लेना, शब्दों का उच्चारण करना आदि को, उचित अभ्यास के साथ ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये और बच्चे का वातावरण घर में तथा स्कूल में ऐसा सहज बना देना चाहिये कि उसके घबराने का या चिन्तित होने का मौक़ा न आये।

[३] देखने में ख़राबी—

स्कूल में बहुत सा कार्य पढ़ने लिखने का होता है इस कारण जिन बच्चों की आँखें ख़राब होती हैं उनके पिछड़ने का डर रहता

है। अगर समय पर उन्हें न संभाला जाये और उनकी आँखों का ठीक तरह से इलाज न कराया जाय तो आँखों में कई खराबियाँ हो जाती हैं— जैसे कुछ लोग दूर की वस्तुएं ठीक तरह से नहीं देख सकते हैं, कुछ लोग पास की वस्तुएं नहीं देख सकते हैं और कुछ लोग खड़ी वस्तुएं देख सकते हैं, लेटी हुई या टेढ़ी नहीं देख सकते हैं। कभी कभी बच्चों के आँखों में बाहरी रोग भी हो जाते हैं। ज्योंही माता-पिता के तथा शिक्षक के बच्चों की आँखों की खराबी का संदेह हो त्योंही डाक्टर के दिखा कर उसका इलाज कराना चाहिये और आवश्यकता हो तो उन्हें चश्मा दिलाना चाहिये।

[४] नाक और गले की बीमारियाँ—

टांसिल के बहुत बढ़ जाने और एडिनाइड्स के हो जाने से भी बच्चा अक्सर पढ़ाई में पिछड़ जाता है। जिस बच्चे की नाक में एडिनाइड्स की बीमारी होती है वह अपने मन के कभी एकाग्र नहीं रख सकता है। वह दर्जे में बैठा रहता है पर उसका ध्यान और ही कहीं लगा होता है। इसका एक खास लक्षण यह है कि बच्चा मुँह खुला रखता है और मुँह से ही साँस लेता है। ऐसा बच्चा रात के खर्राटे लेता है और दिन के जोर जोर से साँस लेता है। उसकी आवाज भरी होती है और नाक से

निकलती है। इस बीमारी का अगर वक्त पर इलाज या आपरेशन न कराया जाये तो बच्चे के लिये स्कूल में उन्नति करना असम्भव सा हो जाता है।

अगर बच्चों को बार बार जुकाम होता हो तो उसका भी वक्त पर इलाज करना चाहिये, क्योंकि जुकाम से भी पढ़ाई की तरक्की रुकती है।

[४] स्नायु-सम्बन्धी बीमारियाँ—

इसमें खास कर दो बीमारियाँ ऐसी होती हैं जो बच्चों को दिमाग़ी काम से और स्कूल में तरक्की करने से रोकती हैं—एक तो एपिलेप्सी और दूसरी कोरिया। एपिलेप्सी में कई रोगों का सम्मिश्रण होता है और इसमें बच्चों को फिट या बेहोशी आती है। इससे धीरे धीरे बच्चों की मानसिक शक्ति घटती जाती है और उनकी स्मृति भी कम होती जाती है। कोरिया में बच्चों की पेशियों का बल बिल्कुल क्षीण हो जाता है। इस बीमारी के शुरू होते ही बच्चों का स्कूल में काम खराब होने लगता है, उनकी नोट-बुक में काट-कूट होने लगती है, लिपि बिगड़ जाती है, हिसाब में और हिज्जों में बेहद ग़लतियाँ होने लगती हैं, बोलने में वे ऐसा गड़बड़ा जाते हैं कि क्या का क्या जवाब देने लगते हैं और वे बराबर अपने पाँव हिलाते डुलाते रहते हैं और इधर-उधर स्याही गिराते हैं।

इन दोनों बीमारियों के लिये माता-पिताओं और शिक्षकों को शीघ्र ही डाक्टर की सहायता लेनी चाहिये।

[६] बायें हाथ वाला होना—

हम लोग प्रायः अपना दाहिना और बांया दोनों हाथ काम में लाते हैं। पर अभ्यास-वश अधिकतर हम लोग दाहिना हाथ ही काम में लाने लग जाते हैं। पर कुछ बच्चों में यह पाया जाता है कि वे बांया हाथ अधिक काम में लाने लग जाते हैं। इसका क्या कारण है? खोज करने से पता लगा है कि इसमें तीन कारण प्रधान पाये जाते हैं— वंश का प्रभाव, अभ्यास, और विरोध करने की अज्ञात इच्छा। अलग अलग लोगों में अलग अलग कारण होते हैं।

समाज में हम देखते हैं कि अधिकतर दाहिना हाथ ही काम में आता है। दर्जी की मशीन दाहिने हाथ से चलानी पड़ती है, ग्रामोफोन को दाहिनी तरफ से चलाना पड़ता है, दर्वाज़ों के कुन्दे और ताले दाहिनी ओर से खुलते हैं, कारखानों में कई मशीनें ऐसी होती हैं जो दाहिने हाथ ही से चलाई जा सकती हैं। इस लिये यह आवश्यक है कि हम बच्चों के दाहिने हाथ को अधिक काम देकर उनमें दाहिने हाथ से ही काम करने का अभ्यास डालें। स्कूल में भी जो बच्चे बांयें हाथ वाले होते हैं (अर्थात् जिनमें जो भी नया काम करें बांयें हाथ से करने की

प्रवृत्ति होती है।) वे अक्सर पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं; पढ़ने में, लिखने में, ड्राइङ्ग में और दस्तकारी में और अन्य कामों में उन्हें हर जगह अड़चन पड़ती है। इस लिए यह आवश्यक है कि उन्हें दाहिने हाथ का अभ्यास कराया जाय।

बायें हाथ की आदत मिटाने के पहले माता-पिताओं को यह पता लगा लेना चाहिये कि उपर्युक्त कारणों में से किस कारण से बच्चे में यह आदत पड़ी है और उसका दाहिना हाथ मजबूत है भी या नहीं। यह पता लगा लेने के बाद धीरे धीरे बच्चे को दाहिने हाथ का अभ्यास कराना चाहिये। जहाँ तक हो सके, माता-पिताओं को चाहिये कि बच्चे के बोलना शुरू करने के पहले यह अभ्यास शुरू करदें। माता-पिता को बच्चे के खिलौने और अन्य सामान सब इस तरह से जमाने चाहियें जिससे उसे दाहिना हाथ ही काम में लाना पड़े। पर बच्चे को यह नहीं मालूम होना चाहिये कि माता-पिता उसे यह सिखाने के लिये चिन्तित हैं और इसी कारण यह चेष्टा कर रहे हैं, क्योंकि यदि अज्ञात इच्छा से विरोध करने के कारण वह आदत पड़ी हुई है तो वह और भी अधिक बढ़ जायेगी।

कुछ लोगों का पहले यह विश्वास था कि एक हाथ को छुड़ा कर दूसरे हाथ का अभ्यास कराने से बोलने में खराबी आती है और बच्चे हकलाने लग जाते हैं, पर अब यह पता लगा है

कि बाँयें हाथ का होना और हकलाना दोनों ही किसी दूसरी खराबी के फल हैं और ये एक दूसरे के कारण नहीं हैं। यदि सावधानी और समझदारी से बच्चे को सिखाया जाये तो उसमें कोई ऐसी खराबी नहीं होती पाई जाती है।

स्वभाव या चरित्र की दुर्बलता

कुछ बच्चे ऐसे देखे जाते हैं जिनमें बुद्धि की कमी नहीं होती, शरीर से भी वे सब प्रकार से स्वस्थ रहते हैं, उन्हें गरीबी का सामना नहीं करना पड़ता, तब भी वे बिगड़ जाते हैं। ऐसे बच्चों में स्वभाव की या चरित्र की कुछ दुर्बलताएँ पाई जाती हैं। स्वभाव की दुर्बलता बताने के पहले यह बताना आवश्यक होगा कि अच्छा स्वभाव किसे कहते हैं। मनुष्य में काम करने की अनेक इच्छाएँ होती हैं। इन्हीं इच्छाओं से प्रेरित होकर मनुष्य काम करता है। जिस मनुष्य की सभी इच्छाओं में समता हो और पूरा मेल रहे उसी मनुष्य को हम अच्छा स्वभाव वाला कहते हैं। कोई एक इच्छा या सभी इच्छाएँ अधिक मात्रा में हों तो चरित्र में दोष होता है।

पागल मनुष्य में जो इच्छाएँ होती हैं वे सभी साधारण मनुष्य में पाई जाती हैं। भेद केवल इतना ही होता है कि पागल में वे अत्यधिक मात्रा में हो जाती हैं और एक इच्छा का दूसरी इच्छा से मेल टूट जाता है। इस लिए जिन बच्चों के भावों में

गड़बड़ी हो जाती है उनके दिमागी काम गड़बड़ होने लगते हैं। इस श्रेणी में कुछ बच्चे तो ऐसे होते हैं जो अधिक उत्तेजित हो जाते हैं। ऐसे बच्चे फौरन पहिचाने जा सकते हैं। उनके हाथ-पाँव और सारे अङ्ग बराबर हिलते रहते हैं, एक जगह जमकर वे बैठ नहीं सकते, इधर से उधर कूदते फाँदते हैं, बोली में उत्तेजना होती है, उँगलियें बराबर हिलती रहती हैं और बात-चीत करते हुए भी वे अपने हाथों से किसी न किसी चीज के साथ बराबर खेलते रहते हैं। कक्षा में वे एक जगह बैठ नहीं सकते, उनकी आँखें बराबर इधर-उधर घूमती रहती हैं और लिखना-पढ़ना उनके लिए असम्भव हो जाता है। ऐसे बच्चों के मन में जो भी भाव आता है, वह घृणा का हो चाहे प्रेम का, बड़े वेग से आता है और बच्चे अपने आप को वश में नहीं रख सकते। ऐसे बच्चे बुद्धि में तेज होने पर भी स्कूल में बहुत उन्नति नहीं कर सकते, क्योंकि उनका मन एक जगह स्थिर नहीं रहता।

इसके विपरीत एक दूसरी तरह के बच्चे होते हैं जो दब्बू होते हैं, दर्जे में चुपचाप बैठे रहते हैं, किसी से मिलते नहीं, उनके चेहरों पर अजीब सी मुर्दनी छाई रहती है, और उनसे कभी कोई सवाल करता है तो वे चौंक उठते हैं। ऐसे बच्चे बराबर शर्माते रहते हैं और एकान्तप्रिय होते हैं और वे अपने

मन में तरह तरह के सपने देखते रहते हैं। वे दर्जे में बैठे रहते हैं पर उनका मन कहीं और रहता है। इस कारण वे बुद्धि में तीव्र होने पर भी पिछड़ जाते हैं।

कुछ ऐसे मानसिक या स्नायुसम्बन्धी रोग भी होते हैं, जैसे हिस्टीरिया, न्यूरेसथेनिया या चिन्तारोग, जिनसे चतुर बच्चे पिछड़ जाते हैं।

चरित्र की दुर्बलता स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों में दो तरह की पाई जाती है— एक सुस्ती और दूसरी बेईमानी। कुछ बच्चे दर्जे में सुस्त रहते हैं और कुछ भी काम नहीं करते। सुस्ती के कारण कई हो सकते हैं— बच्चे का शरीर अस्वस्थ हो, उसमें स्वभाव की दुर्बलता हो या स्नायुसम्बन्धी कोई रोग हो या मानसिक उलझन हो। शिक्षक को सब से पहले चाहिये कि इन कारणों को ढूंढ निकाले और फिर जिस कारण से सुस्ती पैदा हुई हो उसको मिटाने की कोशिश करे। बिल्कुल ही भावशून्य और सुस्त बच्चे बहुत कम होते हैं। ऐसे बच्चे तो बुद्धि में भी दुर्बल होते हैं। पर अधिकतर जो बच्चे सुस्त होते हैं उनकी सुस्ती बस ऊपरी ही होती है जो उनके तेज को ढके रहती है। कारण को दूर करने से ऐसे बच्चे बड़ी होशियारी से काम करने लगते हैं।

दूसरी चरित्र की दुर्बलता जिसके कारण बच्चे स्कूल में पिछड़ जाते हैं बेईमानी है। दर्जे में जो पढ़ाया जाता है उसे बच्चे समझते नहीं हैं पर तरह तरह से शिक्षक को यह बताने की कोशिश करते हैं कि वे समझ गये हैं। वे बताया हुआ काम करते नहीं हैं पर शिक्षक को बराबर धोखा देते रहते हैं कि वे कापी घर पर भूल आये हैं या उनके डेस्क की ताली खो गई है। शिक्षक को इसका भी कारण ढूँढ निकालना चाहिये कि बच्चे धोखा क्यों देते हैं। उन पर कहीं इतना काम तो नहीं है जो उनके बस का नहीं है ?

पिछड़नेवाले बच्चे की शिक्षा

पिछड़नेवाले बच्चे के शिक्षक में दो गुण होने बहुत आवश्यक हैं— एक तो उसमें समझ हो और वह यह जान सके कि अमुक बच्चे के पिछड़ने का क्या कारण है, दूसरा उसमें बच्चे की प्रति प्रेम और सहानुभूति हो। ये दोनों गुण शिक्षक में हों तभी वह पिछड़े हुए बच्चे की सहायता कर सकेगा।

जो बच्चे हीनबुद्धि हैं या मन्दबुद्धि हैं उनके लिए तो पृथक् स्कूल होने ही चाहियें। पर इनके अतिरिक्त बहुत से बच्चे ऐसे होते हैं जिनकी बुद्धि साधारण होती है, फिर भी वे पिछड़ जाते हैं। इनके लिए स्कूल में पृथक् कक्षा होनी चाहिये और इनके लिए पृथक् शिक्षक होने चाहियें और उस कक्षा में प्रत्येक बच्चे पर

व्यक्तिगत ध्यान दिया जाना चाहिये। कुछ बच्चे तो ऐसे होते हैं जो एक दो विषयों ही में पिछड़े रहते हैं, जैसे गणित या भाषा। और कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो सभी विषयों में पिछड़े रहते हैं। ज्यों ज्यों इन बच्चों की कमज़ोरी निकलती जावे और इनकी कमी पूरी होती जाये त्यों त्यों इन्हें वापिस साधारण कक्षा में भेजते रहना चाहिये। इस प्रकार हम कितने ही बच्चों की समस्याएँ हल करके पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करने में उनके सहायक होंगे। हमारे घरों में और स्कूलों में अभी तक पिछड़नेवाले बच्चों की समस्याओं पर बहुत कम विचार हुआ है।

अपराधी बच्चा

हम में से ऐसे विरले ही होंगे जिन्होंने बचपन में झूठ बोलना, चोरी करना इत्यादि अपराध न किये हों। फिर क्या कारण है कि हमें क़ानून से सज़ा नहीं दी गई और अपराधी बच्चों को सज़ा दी जाती है ?

अपराधी और साधारण बच्चों में कोई ख़ास ऐसा भेद नहीं होता जिससे हम उन्हें भिन्न-भिन्न श्रेणियों में बाँट सकें। जो

व्यक्तिगत ध्यान दिया जाना चाहिये। कुछ बच्चे तो ऐसे होते हैं जो एक दो विषयों ही में पिछड़े रहते हैं, जैसे गणित या भाषा। और कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो सभी विषयों में पिछड़े रहते हैं। ज्यों ज्यों इन बच्चों की कमजोरी निकलती जावे और इनकी कमी पूरी होती जावे त्यों त्यों इन्हें वापिस साधारण कक्षा में भेजते रहना चाहिये। इस प्रकार हम कितने ही बच्चों की समस्याएँ हल करके पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करने में उनके सहायक होंगे। हमारे घरों में और स्कूलों में अभी तक पिछड़नेवाले बच्चों की समस्याओं पर बहुत कम विचार हुआ है।

अपराधी बच्चा

हम में से ऐसे विरले ही होंगे जिन्होंने बचपन में झूठ बोलना, चोरी करना इत्यादि अपराध न किये हों। फिर क्या कारण है कि हमें क़ानून से सजा नहीं दी गई और अपराधी बच्चों को सजा दी जाती है ?

अपराधी और साधारण बच्चों में कोई ख़ास ऐसा भेद नहीं होता जिससे हम उन्हें भिन्न-भिन्न श्रेणियों में बाँट सकें। जो

असामाजिक प्रवृत्तियाँ अपराधी बच्चों में पाई जाती हैं वे सूक्ष्म रूप से साधारण बच्चों में भी पाई जाती हैं। दोनों में भेद केवल मात्रा का होता है। यदि हम साधारण और अपराधी बच्चों की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बनाते हैं तो यह हमारी समझ और सुविधा के लिए है, प्रकृति में इस प्रकार की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ नहीं पाई जातीं।

हमारे समाज में अभी तक अपराधी को समझने की बहुत कम कोशिश की गई है। इस ओर लोगों का ध्यान ही नहीं गया है। यदि कोई मनुष्य चोरी करता है या बलात्कार कर बैठता है तो क़ानून उसके क़सूर के मुताबिक़ उसे जेल की सज़ा देता है। कोई भी यह खोज करने की कोशिश नहीं करता कि अपराधी ने कसूर क्यों किया है, उसकी मनोवृत्ति कैसी है और उसे जेल में ठूँसने से कोई लाभ होगा या नहीं। हमारे देश में अपराधी मनुष्यों को तो जाने दीजिये, अपराधी बच्चों की ओर भी लोगों का ध्यान नहीं जाता है। और यह सब से अधिक आवश्यक है। क्योंकि अपराधी बच्चों को यदि प्रारम्भ ही से सँभाला जाय और उन्हें समुचित शिक्षा दी जाय तो संसार में अपराध बहुत कम हो जाय। छोटे अपराधी बच्चों को सुधारना सरल भी है, क्योंकि उस समय तक उनकी आदतें बन नहीं जाती हैं।

अपराधी को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके अपराध की ओर से दृष्टि हटाकर उसके जीवन की ओर अपनी दृष्टि डालें। हमें इससे यह मालूम होगा कि किसी एक अपराध का एक ही कारण नहीं होता वरन् अलग अलग कारण होते हैं अथवा कई कारणों का मेल होता है।

१—नसल

कुछ ही वर्षों पहिले यह समझा जाता था कि अपराधी बच्चे में अपराध करने की प्रवृत्ति नसल से ही पैदा होती है। लोगों का यह विश्वास था कि अपराध करने की प्रवृत्ति बच्चा अपने माँ-बाप से या अपनी पीढ़ी में किसी सम्बन्धी से ग्रहण करता है और उसके कारण जन्म से ही उसमें नैतिक भाव बिल्कुल नहीं होता। कभी-कभी यह देखा जाता है कि ऐसे बच्चे की बुद्धि में किसी भी प्रकार की खराबी नहीं होती पर नैतिक भाव की शून्यता के कारण वह समाज में रहने के बिल्कुल ही अयोग्य होता है।

जिन लोगों ने इस सम्बन्ध में अच्छी तरह से शोध किया है उनका विश्वास है कि अपराध की प्रवृत्ति का नसल से कोई विशेष सम्बन्ध है यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अपराध को देखकर ही हम किसी बच्चे के सम्बन्ध में यह नहीं कह

सकते हैं कि यह उसने अपने बाप-दादों से पाया है। मान लीजिये एक बच्चे का पिता व्यभिचारी है। बच्चे में भी यदि हम अप्राकृतिक काम-प्रवृत्तियाँ पायें तो हमारा यह कहना कि यह नसल के कारण है युक्त नहीं होगा। सम्भव है कि पिता के व्यवहार का या घर के वातावरण का बच्चे के मन पर प्रभाव पड़ा हो और उसकी प्रवृत्तियों का नसल से कोई भी सम्बन्ध न हो। और फिर ऐसे अपराधी बच्चे बहुत कम पाये जाते हैं जिनकी पीढ़ियों में अपराध की प्रवृत्ति पाई जाती है। कहीं-कहीं पीढ़ी दर पीढ़ी अपराध पाया जाता है, पर ऐसे उदाहरण विरले ही हैं। जो उदाहरण मिलते हैं उनमें भी सम्भव है कि वातावरण, अव्यवस्थित घर, माता-पिताओं तथा पड़ोसियों का प्रभाव, कारण हो। इस कारण यह कहना अधिक ठीक होगा कि अपराध का नसल से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। नसल की शारीरिक या मानसिक दुर्बलता का कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ता है। जिस प्रकार शारीरिक दुर्बलता के कारण किसी बच्चे पर बीमारी का जल्दी-जल्दी हमला होता है, उसी प्रकार जिसकी नसल में मानसिक या नैतिक दुर्बलता होती है उस बच्चे में अपराध करने की प्रवृत्ति होने की अधिक सम्भावना होती है। पर यह आवश्यक नहीं है कि उस दुर्बलता के कारण वह अपराधी बने ही।

कुछ लोगों का कहना है कि जिन लोगों में नसल से अपराध करने की प्रवृत्ति हो उन्हें नपुंसक कर देना चाहिये जिससे वे आगे अपराधी सन्तान पैदा न कर सकें। इस तरीक़े में बड़ा ख़तरा है, क्योंकि हमारे आधुनिक ज्ञान से यह पता लगाना बड़ा कठिन है कि कौनसा अपराध नसल से है और कौनसा अन्य कारणों से।

इससे अच्छा तरीक़ा तो यह है कि जो बच्चे जन्म ही से अपराधी प्रमाणित हो जायँ उनके लिये अलग संस्थाएँ खुल जायँ और उन्हें समाज से अलग कर दिया जाय जिससे उन्हें अपराध करने का अवसर ही न मिले।

२—*वातावरण*

अपराध की प्रवृत्ति का कारण वातावरण भी होता है। घर का वातावरण और घर के बाहर का वातावरण इन दोनों का ही हमें विचार करना पड़ेगा।

(क) घर का वातावरण—

घर के वातावरण का बच्चों की मनोवृत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, यह तो मानी हुई बात है। घर में ग़रीबी हो, बच्चों को खाने को और पहिनने को काफ़ी कपड़े या जेब-खर्च के लिए कभी पैसे न मिलते हों तो बच्चों में चोरी करने की इच्छा पैदा

होती है; क्योंकि वे दूसरे बच्चों को आराम में रहते हुए देखते हैं, अच्छा-अच्छा भोजन और सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहिने हुए देखते हैं। ऐसे मैंने कई बच्चे देखे हैं जिन्होंने केवल साधारण आवश्यकताएँ पूरी न होने से छोटी-छोटी चोरियाँ आरम्भ कर दी हैं और बाद में पक्के बनते गये हैं।

गरीबी और भी दूसरे रूप से हानि पहुँचाती है। गरीबी के कारण घर में बड़ी भीड़ हो जाती है, एक ही कमरे में माता-पिता के साथ कई बच्चों को सोना पड़ता है। इसका बच्चों के मन पर बुरा असर पड़ता है और थोड़ी उम्र में ही उनकी काम-विषयक इच्छाएँ बहुत जाग्रत हो जाती हैं, क्योंकि माता-पिताओं के सम्बन्ध से वे परिचित हुए बिना रह नहीं सकते।

फिर जिस घर में गरीबी होती है उसमें बच्चों के खेल या दिलबहलाव का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। वे सड़कों पर और गली-कूचों में मारे-मारे फिरते हैं जिससे बुरे संग में भी पड़ जाते हैं और उनमें आवारगी करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

घर में बच्चों को कुटुम्ब का प्रेम न मिलना अपराध-प्रवृत्ति का एक प्रधान कारण होता है। अक्सर ऐसा पाया जाता है कि जो बच्चे चोरी करते हैं, झूठ बोलते हैं या असामाजिक प्रवृत्ति के होते हैं, उनके घर में या तो सौतेली माँ होती है, या माता

और पिता में बराबर झगड़ा होता रहता है, या वे घर में अकेले बच्चे होते हैं। बच्चे के लिये यह आवश्यक है कि वह घर में प्रेम के वातावरण में पले। पर इसके विपरीत जब उसे नित्य क्लेश और द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है तो उसके जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वह अपराधी बन जाता है। दुःखी घर में ही प्रायः अपराधी तैयार होते हैं।

घर के दूषित वातावरण का बच्चों के कोमल मन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। घर में माता-पिता शराब पीते हों, व्यभिचार करते हों, झूठ बोलते हों या धोखा देते हों तो बच्चों को कितनी भी शिक्षा दी जाये वे प्रायः इन व्यसनों का अनुकरण करते ही हैं। माता-पिता यह चाहते हैं कि भले ही वे शराब पियें, व्यभिचार करें, उनके बच्चे वे काम न करें। यह बिल्कुल अनहोनी बात है। बच्चे शिक्षा से नहीं, उदाहरण से प्रभावित होते हैं।

घर की बुरी हालत के कारण यदि बच्चे में अपराध की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है तो उसे मिटाने का क्या उपाय है? यदि यह ज्ञात हो जाये कि बच्चे की अपराध-प्रवृत्ति का कारण उसका घर ही है तो शीघ्र उसे घर से अलग कर देना चाहिये।

घर से यदि अलग किया जाय तो फिर यह समस्या उपस्थित होती है कि बच्चे को रक्खा कहाँ जाय। इस विषय पर हमारे

होती है; क्योंकि वे दूसरे बच्चों को आराम में रहते हुए देखते हैं, अच्छा-अच्छा भोजन और सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहिनते हुए देखते हैं। ऐसे मैंने कई बच्चे देखे हैं जिन्होंने केवल साधारण आवश्यकताएँ पूरी न होने से छोटी-छोटी चोरियाँ आरम्भ कर दी हैं और बाद में पक्के बनते गये हैं।

ग़रीबी और भी दूसरे रूप से हानि पहुँचाती है। ग़रीबी के कारण घर में बड़ी भीड़ हो जाती है, एक ही कमरे में माता-पिता के साथ कई बच्चों को सोना पड़ता है। इसका बच्चों के मन पर बुरा असर पड़ता है और थोड़ी उम्र में ही उनमें काम-विषयक इच्छाएँ बहुत जाग्रत हो जाती हैं, क्योंकि माता-पिताओं के सम्बन्ध से वे परिचित हुए बिना रह नहीं सकते।

फिर जिस घर में ग़रीबी होती है उसमें बच्चों के खेल या दिलबहलाव का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। वे सड़कों पर और गली-कूचों में मारे-मारे फिरते हैं जिससे बुरे संग में भी पड़ जाते हैं और उनमें अपराध करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

घर में बच्चों को कुटुम्ब का सुख न मिलना अपराध-प्रवृत्ति का एक प्रधान कारण होता है। अक्सर ऐसा पाया जाता है कि जो बच्चे चोरी करते हैं, झूठ बोलते हैं या असामाजिक प्रवृत्ति के होते हैं, उनके घर में या तो सौतेली माँ होती है, या माता

और पिता में बराबर झगड़ा होता रहता है, या वे घर में अकेले बच्चे होते हैं। बच्चे के लिये यह आवश्यक है कि वह घर में प्रेम के वातावरण में पले। पर इसके विपरीत जब उसे नित्य क्लेश और द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है तो उसके जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वह अपराधी बन जाता है। दुःखी घर में ही प्रायः अपराधी तैयार होते हैं।

घर के दूषित वातावरण का बच्चों के कोमल मन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। घर में माता-पिता शराब पीते हों, व्यभिचार करते हों, झूठ बोलते हों या धोखा देते हों तो बच्चों को कितनी भी शिक्षा दी जाये वे प्रायः इन व्यसनों का अनुकरण करते ही हैं। माता-पिता यह चाहते हैं कि भले ही वे शराब पियें, व्यभिचार करें, उनके बच्चे ये काम न करें। यह बिल्कुल अनहोनी बात है। बच्चे शिक्षा से नहीं, उदाहरण से प्रभावित होते हैं।

घर की बुरी हालत के कारण यदि बच्चे में अपराध की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है तो उसे मिटाने का क्या उपाय है? यदि यह ज्ञात हो जाये कि बच्चे की अपराध-प्रवृत्ति का कारण उसका घर ही है तो शीघ्र उसे घर से अलग कर देना चाहिये।

घर से यदि अलग किया जाय तो फिर यह समस्या उपस्थित होती है कि बच्चे को रक्खा कहाँ जाय। इस विषय पर हमारे

देश के लोगों का ध्यान बहुत ही कम गया है। अपराधी बच्चे को घर से निकाल कर किसी जेल या सुधारगृह में ठूँस देने से उसका भला नहीं हो जाता है। छोटी उम्र के बच्चों को जेल में ठूँसने का तरीक़ा ही ग़लत है। वहाँ वे पक्के अपराधियों के संग रहते हैं और जब वे जेल के बाहर निकलते हैं तो पक्के अपराधी बनकर निकलते हैं। इन बच्चों के लिये ऐसे व्यावसायिक स्कूल या अन्य संस्थाएँ होनी चाहियें जहाँ इनकी अच्छी शिक्षा और देख-रेख हो सके। जहाँ तक हो सके, घर का ही सुधार करना आवश्यक है। अधिकतर अपराध-प्रवृत्तियों के आरम्भ घर में ही होते हैं। इस लिये हमें चाहिये सब से पहिले घर की ही स्थिति का सुधार करें।

(ख) घर के बाहर का वातावरण।

घर के बाहर के वातावरण में साथियों का, चाहे वे समवयस्क हों या बड़ी वय के हों, प्रभाव बहुत होता है। यह तो सच है कि सोहबत का असर बच्चों पर ज़रूर पड़ता है, पर यह प्रधान कारण नहीं कहा जा सकता। कोई बच्चा बुरी सोहबत में क्यों पड़ता है इसकी सब से पहिले खोज करनी चाहिये। बच्चे के जीवन में कोई न कोई कारण ऐसा होता है— चाहे उसके घर में कोई मनोरंजन न हो, उसके चरित्र में कोई दोष हो, या उसमें कोई मानसिक या शारीरिक दुर्बलता हो— जिससे

वह बुरे साथियों के संग में पड़ता है; क्योंकि वह दिल से समझता है कि उसका साधारण प्रकृति के बच्चों के साथ मेल नहीं हो सकता है।

बच्चों को जब खाली समय मिलता है और उनके लिए कोई विशेष काम नहीं रहता है उस समय भी उन्हें अपराध करने का अवसर मिलता है। इस लिए बच्चों को मारे मारे फिरने का समय नहीं मिलना चाहिये। जिन बच्चों में अपराध की प्रवृत्ति हो उन्हें सिनेमा से भी बचाना चाहिये। सिनेमा के फिल्म स्वयं तो बच्चों में अपराध की प्रवृत्ति पैदा नहीं करते पर बच्चों में उस प्रकार की प्रवृत्ति पहले से हो तो उसे भड़काने में बहुत सहायक होते हैं। बच्चे सिनेमा में किसी को चोरी करते हुए, खून करते हुए देखते हैं या किसी स्त्री पर अत्याचार करते हुए देखते हैं तो उनकी भी हिम्मत बढ़ जाती है और उनमें अपराध की जो सुप्त प्रवृत्तियाँ होती हैं वे जाग्रत हो जाती हैं।

इसी प्रकार खाली समय का ठीक प्रयोग न होने से बेकारी की अवस्था में बच्चे जुआ खेलना, जेब काटना आदि आदतों में फँस जाते हैं।

बच्चे जब काम करते होते हैं उस समय बहुत कम अपराध करते हैं। पर ऐसा भी पाया जाता है कि उन्हें यदि काम ऐसा मिलता है जिससे वे बहुत असन्तुष्ट रहते हैं तो उसके परिणाम

मामूली सा जँचता है और वह हमेशा खतरनाक और दिलेरी के काम करना चाहता है। वह हमेशा दूसरों का नुकसान करता रहता है, घर का सामान तोड़ता-फोड़ता रहता है और अन्त में घर से भाग निकलता है। इसी तरह लड़कियों में जब शरीर की असाधारण वृद्धि होती है तो उसी के साथ उनकी कामेच्छा भी बहुत बढ़ जाती है और वे पुरुषों को हाव-भाव से आकृष्ट करने लगती हैं और व्यभिचार करने लग जाती हैं। इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि जितने बच्चों की शारीरिक उन्नति असाधारण होती है वे अपराधी होते ही हैं। यह पहिले ही बतलाया जा चुका है कि अपराधी की कोई खास किस्म नहीं होती है जैसा कि पहिले समझा जाता था।

दूसरी बात जो अपराधियों के अध्ययन से मिलती है वह यह है कि अधिकतर अपराधियों के अपराध युवावस्था में होते हैं। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में लड़के और लड़कियों की शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं में बड़े परिवर्तन होते हैं और उनके जीवन में बड़े तनाव होते हैं। इस अवस्था में कामेच्छा का वेग प्रबल होता है जिसके ठीक विकास न होने से बच्चों की शक्तियाँ अपराधों में नष्ट होने लगती हैं। युवावस्था में अगर समझ से काम लिया जाय और लड़के-लड़कियों के साथ सहानुभूति दिखाई जाय तो बहुत से लोग

अपराधी बनने से बच जायें। इस अवस्था में लड़का न तो पूरी मनुष्यता ही को प्राप्त कर लेता है और न वह छोटा बचा ही रहता है। यह वय ऐसा होता है कि उसकी सारी बचपन की वृत्तियाँ— क्रोध, ईर्ष्या, काम— वेग से भड़क उठती हैं, जिससे वह सब से तिरस्कार किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी ही आँखों में गिर जाता है और अपराध की प्रवृत्तियाँ उसमें उत्पन्न हो जाती हैं। लड़कियों को भी इस अवस्था में मासिक स्राव होता है। मासिक स्राव के कुछ दिन पहिले और कुछ दिन बाद उनके लिए बड़े कष्ट के होते हैं। शरीर में दर्द होता है, सुस्ती आती है, तबियत मचली हुई सी रहती है और सब से बड़ा कष्ट तो यह होता है कि इस दशा को उन्हें छिपाना पड़ता है। इस अवस्था में लड़कियों के साथ सहानुभूति का व्यवहार न करने से उनमें प्रायः चोरी की आदत पड़ जाती है और वे बहुत क्रोध भी करने लगती हैं।

शरीर की असाधारण वृद्धि किसी बीमारी के कारण हुई हो तो उसका पहिले इलाज कराना चाहिये। बाहर से कोई बीमारी न मालूम हो तो शरीर में स्थित विविध ग्रन्थियों की अच्छी तरह से परीक्षा करानी चाहिये। उनमें खराबी होने से प्रायः शारीरिक वृद्धि में दोष हो जाते हैं।

युवावस्था में बच्चे जो अपराध करते हैं उनको मिटाने का उपाय एक ही है और वह यह कि बच्चों के साथ माता-पिताओं तथा शिक्षकों की या जिनका बच्चों से वास्ता पड़े उनकी बराबर सहानुभूति बनी रहे और उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के समुचित विकास के साथ-साथ उनकी शिक्षा होती रहे।

ये सब उपाय करने के बाद भी यदि बच्चा बार बार अपराध करे तो उसे किसी अपराधियों की विशेष संस्था में भेजना चाहिये। दुर्भाग्यवश हमारे देश में अभी तक इस तरह की संस्थाएँ नहीं हैं, जैसे की 'बोर्स्टल इन्स्टीट्यूशन' और 'जुवेनाइल कॉलोनीज' पश्चिम के देशों में हैं। 'बोर्स्टल इन्स्टीट्यूशन' में १६ और २१ साल के बीच के वय के अपराधी भेजे जाते हैं और वहाँ उन्हें ३१ वर्ष तक रक्खा जाता है। यहाँ उनसे शारीरिक मेहनत और मजदूरी कराई जाती है और व्यवसाय की शिक्षा दी जाती है। बाद में जब अपराधी मुक्त किया जाता है तब वह जीवन में अच्छी तरह से जम जावे, इस बात की कोशिश की जाती है। इन स्कूलों में अपराधियों के साथ बड़ी कड़ाई की जाती है। इनके विपरीत 'जुवेनाइल कॉलोनीज' होती हैं जहाँ अपराधियों को पूरी स्वतन्त्रता दी जाती है। इसका अच्छा सा नमूना इंगलैण्ड में डोरसेटशायर का 'लिटिल कामनवेल्थ' था। इसमें १४-१५ वर्ष के बच्चे लिये

जाते थे। इस 'कामनवेल्थ' का खास सिद्धान्त यह था कि युवा अपराधियों को जो कुछ वे चाहें करने की आज़ादी दी जाये तो धीरे धीरे उनकी अपराध-प्रवृत्ति मिट जाती है। और उनके अच्छे गुण प्रकट होने लगते हैं। यहाँ के अपराधी बच्चे अपने ही क़ानून बनाते थे और अपने आप अपराधियों को सज़ा देते थे। इस तरह अपराधी की शक्ति जो पहिले क़ानून के तोड़ने में लगती थी, पीछे क़ानून की रक्षा करने में लगने लगती थी।

शारीरिक रोग—

शरीर की बनावट और बुद्धि के दोषों के अतिरिक्त बहुत से रोग ऐसे होते हैं जो सारे शरीर को अथवा शरीर के कुछ अंगों को दुर्बल बना देते हैं जिनसे भी अपराध की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। दुर्बलता की अवस्था में संयम कम रहता है और मिजाज चिड़चिड़ा हो जाता है, यह तो हमारा रोज़ का अनुभव है। यदि शरीर में कोई पुराना रोग हो अथवा कोई कड़ी बीमारी हो तो फौरन पहिले उसका उचित इलाज कराना चाहिये और अपराध की ओर बाद में ध्यान देना चाहिये। बहुत सी स्नायु-सम्बन्धी बीमारियाँ ऐसी होती हैं जिनसे अपराध की प्रवृत्ति बढ़ती है। इनमें तीन विशेष उल्लेखनीय हैं— (१) एपिलेप्सी जिसमें फिट आते हैं, (२) एनसीफ्लेटिस जिसमें मस्तिष्क तथा उसके आस पास की झिल्लियों में सूजन हो जाती

है, और (३) कोरिया जिसमें शरीर की सब झिल्लियों पर गठिया का रोग हो जाता है और रोगी का अपने शरीर पर कोई भी वश नहीं रहता। इन रोगों में प्रायः अपराध करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि मनुष्य जब इनसे ग्रसित हो जाता है तब उसमें अपने पर कोई अधिकार नहीं रहता। यदि अपराध के ये रोग कारण हों तो शीघ्र किसी अच्छे अस्पताल में पहिले इन रोगों का उपचार कराना चाहिये। सिर में कोई गहरी चोट लगने से जिसमें मस्तिष्क को क्षति पहुँचे या खून में सिफलिस के कीड़े होने से भी अपराध-प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

इन रोगों के अतिरिक्त और भी शरीर के इन्द्रियों के कुछ विशेष रोग होते हैं— जैसे आँखों से कम देखना, कानों से कम सुनना, ठीक तरह से बोल नहीं सकना अथवा तुतलाना— जिनके कारण बच्चा मन ही मन में घुलता है। समाज उसकी दुर्बलता पर ध्यान न देकर जब उसके ऊपर अन्याय करता है तो अपराध करके वह समाज से बदला लेता है।

अपराधी बच्चे में कोई भी शारीरिक खराबी हो, चाहे वह बुद्धि की हो या किसी रोग के कारण हो, तो उसे किसी भी प्रकार की सजा देने के पहिले उसके शरीर की अच्छी तरह से जांच कराकर इलाज कराना चाहिये। सम्भव है कि शारीरिक रोग का इलाज होने के साथ साथ अपराध की प्रवृत्ति भी मिट जाय।

४—मानसिक अवस्था

कुछ बच्चे ऐसे भी पाये जाते हैं जो हीनबुद्धि होने के कारण अपराध करते हैं। जिन बच्चों की बुद्धि हीन होती है उन्हें भले और बुरे का कुछ भी ज्ञान नहीं होता और जिस काम के लिए उनकी इच्छा होती है वही वे कर बैठते हैं। साधारण पुरुषों में बुरे कामों से रुकने की जो प्रेरणा होती है वह इन लोगों में बिल्कुल ही नहीं होती, क्योंकि इन्हें भले और बुरे का ज्ञान ही नहीं होता। बुद्धि की कोटि से अपराध का बहुत सम्बन्ध होता है। जो सब से अधिक हीनबुद्धि होते हैं वे आवारा फिरते रहते हैं, निर्दय काम करते हैं और कहीं न कहीं कुछ नुक़सान करते रहते हैं या नाश करते रहते हैं। जो चोरी करते हैं वे बुद्धि में इनसे कुछ तेज होते हैं, क्योंकि चोरी करने में थोड़ी चतुरता भी चाहिये। यह पाया जाता है कि जो स्त्रियाँ व्यभिचार करती हैं उनकी बुद्धि इन दोनों प्रकार के लोगों से ज्यादा तेज होती है।

हीनबुद्धि अपराधी कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो सुस्त होते हैं जो दूसरे अपराधियों के पंजे में फँसकर अपराध करते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो दूसरे छोटे साथियों को फँसाते हैं। कुछ का भावात्मक जीवन बड़ा अनियमित होता है और कुछ साधारण बुद्धि से हीन होते हुए भी कुछ बातों में बड़े चतुर

होते हैं, जैसे कुछ गाने में बड़े चतुर होते हैं तो कुछ हाथ का काम करने में बड़े होशियार होते हैं— जैसे दूकानों के ताले तोड़ना या जेबों में से रुमाल चुराना। कुछ बच्चों में कल्पना-शक्ति बड़ी तीव्र होती है और मन में वे तरह तरह के नाटक रचा करते हैं। कुछ अपराध तो ऐसे होते हैं जिनमें बड़ी चतुरता और कल्पना-शक्ति की अपेक्षा होती है। जो बुद्धि में हीन होते हैं वे उनको करने में असमर्थ होते हैं।

यदि बच्चा हीनबुद्धि होने के कारण अपराध करता है तो उसे अपराध के लिए सजा नहीं देनी चाहिये। उसका अच्छी तरह से इलाज कराना चाहिये और किसी मनोवैज्ञानिक से भी जांच करा लेनी चाहिये। हीनबुद्धि बच्चों को साधारण स्कूलों से या घरों से कोई लाभ नहीं होता। उनके लिए विशेष संस्थाएँ होनी चाहियें और वहीं उनको भेजना चाहिये। ऐसी संस्थाओं में बच्चों को व्यवसाय सिखाया जाना चाहिये। ये किसी मनोवैज्ञानिक के निरीक्षण में होनी चाहियें जिससे हरएक बच्चे की मनोवृत्ति को समझकर उसे शिक्षा दी जा सके। कुछ लोगों का मत है कि हीनबुद्धि बच्चों को नपुंसक कर देना चाहिये जिससे वे हीनबुद्धि सन्तान पैदा न कर सकें, पर इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे बच्चों को समाज से बिल्कुल अलग कर दिया

जाय और अलग ही संस्थाओं में उनको कुछ काम सिखाये जायं तो बहुत अच्छा हो।

मन्दबुद्धि भी प्रायः अपराधी पाये जाते हैं। मन्दबुद्धि बच्चा स्कूल में पढ़ता है पर दर्जे में सब से पिछड़ा हुआ रहता है और उसे पढ़ने-लिखने में कोई रुचि नहीं रहती। उसका स्कूल में बिल्कुल ही जी नहीं लगता और रोज उसे माता-पिताओं और शिक्षकों की झिड़कियाँ सुननी पड़ती हैं। ऐसे बच्चे जल्दी ही स्कूल छोड़ देते हैं। वे किसी काम में लगाये जाते हैं, पर उनका वहाँ से जी उचट जाता है और वे पैसा कमाने के लिए और पेट भरने के लिए झूठ बोलते हैं और चोरी करने लग जाते हैं। वे अपनी दुर्बलता जानते हैं। पर उनकी समझ में नहीं आता कि दुनिया उनकी कमजोरी से क्यों नाराज है, क्योंकि वह उनके किये की तो होती नहीं। माता-पिता, अध्यापक या जो भी उनको उनके काम के लिए डाँटते-फटकारते हैं वे उन पर बड़ा अन्याय करते हैं। ऐसे बच्चों को साधारण स्कूलों में नहीं रखना चाहिये। इनके लिए अलग संस्थाएँ होनी चाहिये और अलग संस्थाएँ न भी हों तो अलग कक्षाएँ खुलनी चाहियें; क्योंकि इन्हें साधारण बच्चों के साथ रहने से कोई लाभ तो होता नहीं, इनके सम्पर्क से दूसरे बच्चों की हानि का भय ही रहता है।

हीनबुद्धि और मन्दबुद्धि न होने पर भी कुछ बच्चे स्कूल में पिछड़ जाते हैं। इनके पिछड़ने के कारणों का उल्लेख पिछले प्रकरण में हो चुका है। ऐसे बच्चों की भी अगर अच्छी तरह से परवाह न की जाय तो वे प्रायः अपराधी हो जाते हैं। इनको अपराधी होने से रोकने का उपाय यही है कि इनके लिए अलग कक्षाएं खोली जायं और इनमें जो भी खराबियाँ हों उनके मिटाने का प्रयत्न किया जाये। अगर ये बहुत पिछड़ गये हों तो इनको व्यवसायी स्कूलों में अच्छी सफलता मिल सकती है। पर किसी व्यवसायी स्कूल में भेजने के पूर्व यह मालूम कर लेना चाहिये कि बच्चे की रुचि किस व्यवसाय में होगी और किसके लिए वह योग्य होगा।

कभी कभी यह भी पाया जाता है कि बुद्धि में बहुत तीव्र बच्चे भी अपराध कर बैठते हैं। पर तीव्र बुद्धि कभी अपराध का प्रधान कारण नहीं होती है। अपराध का कारण कुछ और ही होता है, जैसे किसी के घर में बच्चे के माता-पिता बहुत ही मन्दबुद्धि हों और उसकी बुद्धि के विकास का पूरा अवसर न देते हों, बच्चे को उसकी योग्यता से नीचे के दर्जे में भर्ती कर दिया गया हो या उसे कोई मामूली सा या खराब पेशा मिल गया हो। इन कारणों से वह मन में दुखी होता है और समझता है कि समाज उसके साथ अन्याय कर रहा है। इस लिए उसका

विरोध करना वह अपना कर्तव्य समझता है और अपराधी बन जाता है। अपनी तीव्र बुद्धि को वह अपराध करने के काम में लाता है और ऐसे अपराध करता है जिनमें चतुरता और बुद्धि की अपेक्षा होती है। ऐसे बच्चों को सुधारने के पहले घर या स्कूल को, जहाँ भी अपराध करने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई हो, सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। बाद में धीरे धीरे बुद्धिमान् बच्चे को अपने आप सुधरने का अवसर देना चाहिये। अपनी भलाई और बुराई को शीघ्र ही वह समझ लेगा और अपने आप अपना सुधार कर लेगा। किसी 'रिफार्मेट्री' या सुधार के स्कूल में या व्यवसायी स्कूल में उसे भेजना आवश्यक नहीं है।

५—स्वभावगत अवस्था

स्वभाव जन्मसिद्ध प्रवृत्तियों से बनता है। जन्मसिद्ध प्रवृत्तियों में प्रधान प्रवृत्तियाँ भूख और कामेच्छा हैं। भूख व्यक्ति को और काम जाति को बनाये रखती है। ये प्रवृत्तियाँ बड़ी शक्तिशाली और वेगवती होती हैं और सदा ये अपना रास्ता ढूँढती रहती हैं। इनके मार्ग में कोई रुकावट पड़ती है तो ये भड़क उठती हैं। अपराध की प्रवृत्ति इसी तरह के भड़कने का नाम है। मनुष्य को भूख लगती है और यदि वह सन्तुष्ट न हो तो वह चोरी करता है, क्रोध करता है और लोगों को मारता है। इसी प्रकार काम की तृप्ति साधारण रूप से न हो तो वह

बलात्कार करने को तैयार हो जाता है। मनुष्य में और भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, जैसे क्रोध, वस्तुओं का संग्रह करना, निर्दयता, आदि, जो इन्हीं प्रधान प्रवृत्तियों से उत्पन्न होती हैं।

यह अब सिद्ध सी बात है कि ये प्रवृत्तियाँ कभी दबाई नहीं जा सकती हैं और जितना ही इन्हें दबाने का प्रयत्न किया जाता है उतना ही ये भड़क कर उल्टे रास्ते निकलना चाहती हैं। इस लिए धीरे धीरे इनकी शक्तियों को अच्छे रास्ते पर लगाने का प्रयत्न करना चाहिये।

जो प्रवृत्तियाँ साधारण बच्चे में होती हैं वे ही अपराधी बच्चे में भी होती हैं। भेद बस इतना होता है कि साधारण बच्चे में सब प्रवृत्तियों का समरूप से समावेश होता है और असाधारण या अपराधी बच्चे में इनकी विषमता या अस्थिरता रहती है। उसमें कभी एक प्रवृत्ति वेग से बढ़ती है और दूसरे ही क्षण एक विपरीत ही प्रवृत्ति उतने ही वेग से बढ़ जाती है। प्रेम और घृणा, रोब जमाना और भय खाना, ऐसी विपरीत प्रवृत्तियाँ उसके जीवन में एक के बाद दूसरी आती हैं और बड़े वेग से आती हैं। अस्थिरता उसके स्वभाव में होती है। उसकी एक प्रवृत्ति रोक दीजिये तो दूसरी भड़क उठेगी। अगर उसका गुस्सा किसी तरह से रोकिये तो वह आवारागर्दी करने लगेगा, उसकी आवारागर्दी रोकिये तो वह चोरी करने लगेगा, और

चोरी रोकिये तो वह व्यभिचार करने लग जायेगा। उसकी शक्ति के प्रवाह को कहीं न कहीं निकलना ही चाहिये। इस प्रवाह को रोकने से कोई लाभ नहीं होता है। यदि हम अपराधी को फिर समाज में रहने के योग्य बनाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम उसमें कोई ऐसी रुचि या शौक़ पैदा करें जिससे समाज की भलाई होती हो। इससे उसकी सारी शक्ति उसी में लग जायगी और वह फिर साधारण मनुष्य हो जायेगा। इसके अतिरिक्त कोई और उपाय नहीं है।

इस तरह के अस्थिर और दूषित स्वभाव के अपराधियों को घरों से और साधारण स्कूलों से अलग कर देना चाहिये और इनके लिए अलग संस्थाएँ होनी चाहियें। यह जरूरी नहीं है कि ये सदा के लिए हटा दिये जायँ। जब ये अच्छे हो जायँ तो इन्हें फिर जनसाधारण के साथ रहने की आज्ञा दी जा सकती है। जहाँ तक हो सके, इनके रहने का प्रबन्ध शहर से दूर किसी एकान्त स्थान में होना चाहिये जिससे इनका मन बहुत चलायमान न हो। इनके वातावरण में चारों ओर स्थिरता होनी चाहिये। ऐसे बच्चों को डराने धमकाने से अथवा दण्ड देने से लाभ के बजाय हानि ही होती है। सच्चा संयम तो आत्म-संयम है जो बच्चा धीरे धीरे अपने आप ही सीखता है।

अस्थिर बच्चों के लिए खेल और व्यायाम का भी प्रबन्ध होना चाहिये जिससे इनकी अधिक शक्ति उनके द्वारा निकल सके। यह देखा गया है कि इस प्रकार के अस्थिर बच्चों को संगीत का बड़ा शौक होता है और इन्हें सङ्गीत सिखाया जाय तो जैसी प्रवीणता ये हाथ के काम में दिखाते हैं वैसी ही प्रवीणता संगीत में भी दिखाते हैं। संगीत के साथ साथ यदि नृत्य भी सिखाया जा सके तो और अधिक लाभ हो सकता है। इनका समय अच्छी तरह बीतने के साथ ही संगीत से इनके जीवन में लय और स्थिरता आयेगी जो इनकी अपराध प्रवृत्ति को मिटाने में बड़ी सहायक होगी।

स्नायविक रोग—

ऊपर कुछ रोगों का उल्लेख हो चुका है जो स्नायु-सम्बन्धी हैं, जैसे एपिलेप्सी और कोरिया। इन रोगों का शरीर से सम्बन्ध है। पर एक दूसरे प्रकार के स्नायु-सम्बन्धी अर्थात् नसों के रोग होते हैं जिनका कि मन से सम्बन्ध होता है। इन रोगों के कारण भी कभी कभी अपराध की प्रवृत्ति हो जाती है। इन रोगों में कुछ तो ऐसे हैं जिनका अपराध से सीधा सम्बन्ध नहीं होता और कुछ ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध बिल्कुल ही सीधा होता है। जिन रोगों का सम्बन्ध अपराध से सीधा नहीं है उनमें दो प्रधान हैं— एक तो 'न्यूरेस्थीनिया' और दूसरा 'एंग्जाइटी स्टेट्स'।

न्यूरेस्थीनियां बच्चों में ज्यादा पाया जाता है। इसमें बच्चा सुस्त और बेजान सा हो जाता है और कभी कभी कोई अपराध भी कर बैठता है। वह कभी किसी अपराध के करने की कोई खास तैयारी नहीं करता है पर उसकी इच्छा-शक्ति इतनी दुर्बल हो जाती है कि किसी भी मौक़े पर वह अपराध कर बैठता है। उदाहरण के लिए मान लीजिये उसके पास किसी का रुपया रक्खा हुआ है। वह उसे जेब में रख लेगा, पर कभी किसी चोरी के लिये पहिले से वह कोई इच्छा नहीं करेगा या उपाय नहीं सोचेगा।

बच्चों में जो स्नायविक रोग सब से अधिक होता है और जो कभी कभी अपराध का कारण होता है वह एन्ज़ाइटीज़ स्टेट्स है। इस रोग के भी दो प्रकार होते हैं— 'एन्ज़ाइटीज़ हिस्टीरिया' और 'एन्ज़ाइटीज़ न्यूरोसिस'। इन दोनों का सम्मिश्रण भी पाया जाता है। इस अवस्था में विशेष स्थिति भय की रहती है और इसके कारण जो अपराधी होते हैं वे प्रायः आवारागर्द या घर से भाग निकलने वाले होते हैं।

एक दूसरे प्रकार का स्नायविक रोग, जो अपनी पूर्ण अवस्था में कम पाया जाता है, 'आब्सेशन न्यूरोसिस' या 'कंन्वरशन हिस्टीरिया' कहलाता है। इसकी कई स्थितियाँ होती हैं, पर हम यहाँ दो का ही उल्लेख करेंगे। एक तो वह स्थिति जिसमें

जबरदस्ती से कोई विचार बार बार मन में आता है और दूसरी वह जिसमें जबरदस्ती से कोई काम करने की अंदर से प्रेरणा होती है। कोई स्मृति, कोई वाक्य या कोई विचार बार बार बच्चे के मन में आता है और कितना भी यत्न करने पर वह नहीं हटता है, बराबर उसके ध्यान को पकड़े रहता है, तो इसका परिणाम यह होता है कि या तो वह बच्चा उस विचार को कार्य रूप में परिणत कर देता है या कोई अटपटा काम या अपराध करके उस विचार से छुटकारा लेता है।

साधारण मनुष्य तो किसी भी विचार से केवल इच्छाशक्ति से छुटकारा पा लेता है, पर क्या कारण है कि कुछ लोग कुछ विचारों से छुटकारा नहीं पाते ? इसका कारण यह होता है कि किसी प्रबल भावात्मक प्रेरणा का किसी विचार से सम्बन्ध जुड़ जाता है और उसी के कारण वह विचार बार-बार मन में आया करता है। रोगी उस सम्बन्ध को नहीं जानता। किसी में कुछ काटने की बार-बार प्रबल प्रेरणा होती है। किसी में बार-बार हाथ धोने की प्रेरणा होती है। कोई किसी सामान को बार-बार छूना चाहता है। कुछ लोगों को किसी वस्तुविशेष के, जिसका उनकी जानकारी में उन्हें कोई लाभ नहीं होता, चुराने की लत पड़ जाती है; जैसे कोई कपड़े चुराता है, कोई रस्सियाँ चुराता है, और कोई खाली लिफाफे ही चुराता है। इस प्रकार की

जितनी प्रवृत्तियाँ होती हैं वे इच्छाशक्ति से रुकती नहीं हैं, मन में ऐसी प्रेरणाएँ होती हैं जिनके कारण मनुष्य बरबस उन कामों को करने जाता है। उसे जैसे कोई बाहर से खींचे ले जा रहा हो, ऐसा मालूम होता है।

इस तरह के स्नायु-रोग-ग्रसित अपराधी बच्चों के मन को अच्छी तरह से टटोला जाय तो पता लगेगा कि उनके मन में भारी द्वन्द्व गुप्त हैं और ये जो जबरदस्ती के विचार और काम उनसे होते हैं उन्हीं द्वन्द्वों तक हैं। द्वन्द्व का पता लगाने के लिए मनोविश्लेषक को रोगी के मन में गहरा गोता लगाना पड़ता है। आसानी से उसका पता नहीं लगता। और जब तक उसका पता नहीं लगता तब तक रोग नहीं मिटता। बिना मूल कारण को मिटाये एक दोष को मिटा दीजिये तो दूसरा तैयार हो जायेगा, और दूसरे को मिटाइये तो तीसरा दिखाई देगा। इसी तरह रोग चलता रहेगा। जब तक मूल द्वन्द्व न मिट जाय, रोग नहीं मिटेगा।

मानसिक रोगों में 'हिस्टीरिया' बड़ा प्रसिद्ध रोग है। पर अपराधी बच्चों में यह बहुत कम पाया जाता है। हिस्टीरिया में कोई शारीरिक रोग मालूम होने लगता है, जैसे किसी का कोई अङ्ग मारा जाता है, कोई अङ्ग सिकुड़ जाता है या शरीर के किसी भाग में दर्द होने लगता है जिसका कोई शारीरिक कारण

नहीं होता है। रोगी अनजान में किसी का ध्यान खींचने के लिए या किसी की सहानुभूति पाने के लिए दर्द मालूम करने लगता है।

इन सब रोगों के उपरान्त पागलपन होता है जिसमें रोगी का वास्तविकता से सम्बन्ध बिलकुल छूट जाता है। पागल अपराधी बच्चे भी कभी कभी मिलते हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है। उनकी संख्या कम है, पर उनके लिए अच्छी संस्था होना और उनका इलाज होशियार डाक्टर के द्वारा होना आवश्यक है।

यहाँ हमने अपराध के कुछ कारणों का उल्लेख किया है। इनको देखकर मालूम होगा कि अपराध का एक कारण नहीं होता। शरीर, मन, स्वभाव, वातावरण आदि में कहीं भी दोष होने से अपराध की प्रवृत्ति भड़क सकती है। अधिकतर होता यह है कि अपराध का उत्तरदायित्व अपराधी के ऊपर बहुत कम होता है। वह तो आन्तरिक या बाह्य कारणों से प्रेरित होकर अपराध के लिए तैयार हो जाता है। समाज उसे दण्ड देकर या जेल में ठूँस कर उसे और भी पक्का अपराधी बना देता है। अधिकतर समाज ही मनुष्य को अपराधी बना देता है और वही उसे सजा देता है। यह बड़ा अन्याय है। इस विषय में हमें अपना दृष्टिकोण बदलना चाहिये और अपराधी का सुधार करने के लिए अपराधी के व्यक्तिगत जीवन को समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

कुटुम्ब में बच्चे की शिक्षा

स्त्री और पुरुष के प्रेम के आधार पर कुटुम्ब बनता है। अकेली स्त्री या अकेला पुरुष कुटुम्ब नहीं बना सकता। दोनों में जब प्रेम-भावना उत्पन्न होती है तब दोनों मिल जाते हैं और अपना घर स्थापित करते हैं। स्त्री और पुरुष के संयोग से ही कुटुम्ब बनता है। इसी संयोग के फल-स्वरूप बच्चे उत्पन्न होते हैं और कुटुम्ब की वृद्धि होती है।

बच्चे के व्यक्तित्व, वृद्धि और शिक्षा के लिए कुटुम्ब सब से अधिक महत्त्व का है, क्योंकि इसी के वातावरण में और इसी अवस्था में उस पर सब से अधिक प्रभाव पड़ते हैं। बच्चा जन्म से कुछ शक्तियाँ लेकर आता है। पर बहुत कुछ उसके लालन-पालन पर और उसके वातावरण पर भी निर्भर रहता है। एक तीव्र बुद्धि वाले बच्चे को अच्छे वातावरण में न रक्खा जाय तो उसकी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और एक मन्द बुद्धि वाले बच्चे को अच्छा वातावरण मिले तो उसकी मन्द बुद्धि भी उपयोगी काम में लग सकती है। बच्चों में जो बहुत सी बुरी आदतें पड़ जाती हैं—जैसे झूठ बोलना, चोरी करना, हठीलापन इत्यादि—ये सब वातावरण ही के कारण होती हैं। जन्म से कोई बच्चा चोर या झूठा नहीं होता। उसके झूठ बोलने, चोरी करने तथा अन्य बुरी आदतों का उत्तरदायित्व तो हम पर ही है।

अच्छे वातावरण के लिए पहिली आवश्यकता तो यह है कि बच्चे के माता-पिता का विवाहित जीवन सुखी हो और उनमें परस्पर प्रेम हो। जिस घर में माता-पिता अपने विवाहित जीवन से सुखी और सन्तुष्ट न हों और एक दूसरे पर अविश्वास करते हों उस घर का वातावरण दूषित हो जाता है और बच्चे के जीवन को प्रारम्भ ही में कलुषित कर देता है।

विवाहित जीवन का सन्तोष बहुत कुछ कामेच्छा की तृप्ति पर निर्भर रहता है। कामेच्छा की तृप्ति का केवल शरीर से ही

सम्बन्ध नहीं होता, मन से भी उसका गाढ़ा सम्बन्ध होता है। एक पुरुष एक स्त्री से तथा अनेक स्त्रियों से बार-बार सम्भोग करे तब भी सम्भव है कि उसे तृप्ति न मिले। तृप्ति शारीरिक और मानसिक तनाव के कम हो जाने से होती है। मानसिक तनाव बचपन के संस्कारों पर बहुत कुछ निर्भर रहता है।

मानसिक तनाव किस प्रकार होता है और उसका बचपन से किस तरह सम्बन्ध है इसका केवल एक ही उदाहरण यहाँ दिया जाता है। बच्चे का पहिला प्रेम माता से होता है और कुछ बच्चों का यह प्रेम ऐसा गाढ़ा हो जाता है कि वह वहीं जम जाता है। ऐसी दशा में यौवनावस्था के आ जाने पर भी बच्चा और किसी से प्रेम करने में अशक्त हो जाता है। सब जगह वह अपनी माता ही को ढूंढ़ता है। माता से उसकी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं और अन्य स्त्रियों से उसका प्रेम नहीं हो सकता। इस कारण ऐसे पुरुष के मन में बराबर तनाव रहता है और वह विवाहित जीवन के लिए अशक्त हो जाता है। ऐसे पुरुष का यदि विवाह हो जाय तो वह कभी सुखी नहीं रहता। जब तक उसके मन की ग्रन्थि न सुलझ जाय, वह साधारण पुरुषों की तरह विवाहित जीवन के सुख का उपभोग नहीं कर सकता। विवाहित जीवन को सुखमय बनाने के लिए स्त्री और पुरुष दोनों ही के मन की ग्रन्थियाँ सुलझी होनी चाहियें। दोनों

बच्चे के व्यक्तित्व, वृद्धि और शिक्षा के लिए कुटुम्ब सब से अधिक महत्त्व का है, क्योंकि इसी के वातावरण में और इसी अवस्था में उस पर सब से अधिक प्रभाव पड़ते हैं। बच्चा जन्म से कुछ शक्तियाँ लेकर आता है। पर बहुत कुछ उसके लालन-पालन पर और उसके वातावरण पर भी निर्भर रहता है। एक तीव्र बुद्धि वाले बच्चे को अच्छे वातावरण में न रक्खा जाय तो उसकी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और एक मन्द बुद्धि वाले बच्चे को अच्छा वातावरण मिले तो उसकी मन्द बुद्धि भी उपयोगी काम में लग सकती है। बच्चों में जो बहुत सी बुरी आदतें पड़ जाती हैं— जैसे झूठ बोलना, चोरी करना, हठीलापन इत्यादि— वे सब वातावरण ही के कारण होती हैं। जन्म से कोई बच्चा चोर या झूठा नहीं होता। उसके झूठ बोलने, चोरी करने तथा अन्य बुरी आदतों का उत्तरदायित्व तो हम पर ही है।

अच्छे वातावरण के लिए पहिली आवश्यकता तो यह है कि बच्चे के माता-पिता का विवाहित जीवन सुखी हो और उनमें परस्पर प्रेम हो। जिस घर में माता-पिता अपने विवाहित जीवन से सुखी और सन्तुष्ट न हों और एक दूसरे पर अविश्वास करते हों उस घर का वातावरण दूषित हो जाता है और बच्चे के जीवन को प्रारम्भ ही में कलुषित कर देता है।

विवाहित जीवन का सन्तोष बहुत कुछ कामेच्छा की तृप्ति पर निर्भर रहता है। कामेच्छा की तृप्ति का केवल शरीर से ही

सम्बन्ध नहीं होता, मन से भी उसका गाढ़ा सम्बन्ध होता है। एक पुरुष एक स्त्री से तथा अनेक स्त्रियों से बार-बार सम्भोग करे तब भी सम्भव है कि उसे तृप्ति न मिले। तृप्ति शारीरिक और मानसिक तनाव के कम हो जाने से होती है। मानसिक तनाव बचपन के संस्कारों पर बहुत कुछ निर्भर रहता है।

मानसिक तनाव किस प्रकार होता है और उसका बचपन से किस तरह सम्बन्ध है इसका केवल एक ही उदाहरण यहाँ दिया जाता है। बच्चे का पहिला प्रेम माता से होता है और कुछ बच्चों का यह प्रेम ऐसा गाढ़ा हो जाता है कि वह वहीं जम जाता है। ऐसी दशा में यौवनावस्था के आ जाने पर भी बच्चा और किसी से प्रेम करने में अशक्त हो जाता है। सब जगह वह अपनी माता ही को ढूँढ़ता है। माता से उसकी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं और अन्य स्त्रियों से उसका प्रेम नहीं हो सकता। इस कारण ऐसे पुरुष के मन में बराबर तनाव रहता है और वह विवाहित जीवन के लिए अशक्त हो जाता है। ऐसे पुरुष का यदि विवाह हो जाय तो वह कभी सुखी नहीं रहता। जब तक उसके मन की ग्रन्थि न सुलझ जाय, वह साधारण पुरुषों की तरह विवाहित जीवन के सुख का उपभोग नहीं कर सकता। विवाहित जीवन को सुखमय बनाने के लिए स्त्री और पुरुष दोनों ही के मन की ग्रन्थियाँ सुलझी होनी चाहियें। दोनों

के बाहर आता है, उसे यह सारा संसार अद्भुत दिखाई देता है। उसके जीवन का सारा श्रम अपने आप को अपने वातावरण के अनुकूल बनाने का होता है। वातावरण केवल बाहर ही नहीं होता। हमारे अन्दर की भावनाएँ और इच्छाएँ भी हमारा वातावरण बनाती हैं।

माता-पिता और बच्चों में अच्छा मेल हो सके इसके लिये यह आवश्यक है कि उनमें परस्पर समानता के भाव उत्पन्न हों। वय में छोटे होते हुए भी बच्चे हमारी ही तरह व्यक्तित्व रखते हैं और जब तक हम उनके व्यक्तित्व का आदर नहीं करते तब तक हम में और उनमें कभी मेल नहीं हो सकता।

अधिकतर माता-पिता अपने बच्चों को अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण करने के साधन बनाते हैं। उनकी इच्छा होती है कि जिन जिन बातों में वे हतारा हुए हैं उन सब बातों में उनके बच्चे पूरे हों। यह माता-पिताओं का स्वार्थ है। वे यह भूलते हैं कि प्रत्येक बच्चे का अपना व्यक्तित्व होता है, उसकी अपनी अभिरुचि, आकांक्षाएँ और इच्छाएँ होती हैं। बच्चा मिट्टी का ढेला तो होता नहीं कि उसे जैसा हम चाहें वैसा तोड़-मोड़कर बना दें।

इसका यह अर्थ नहीं है कि माता-पिताओं को बच्चों की कुछ भी सहायता नहीं करनी चाहिये। यदि वे वास्तव में बच्चों

की सहायता करना चाहते हैं, तो उन्हें उनकी प्रकृति और उनके मानसिक तथा शारीरिक वृद्धि के नियमों से अवश्य परिचित होना चाहिये। बच्चे की प्रकृति का ज्ञान न होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

किशोरावस्था में बच्चा अक्सर अपना अँगूठा चूसता है। माता-पिता गन्दी आदत समझ कर इसे छुड़ाने का हठ करते हैं। कभी उसके हाथों पर पट्टियाँ या चपाटियाँ बाँध देते हैं और कभी उसका हाथ जबर्दस्ती से बाहर खींच लेते हैं। यह माता-पिताओं की नासमझी का एक अच्छा उदाहरण है।

अँगूठा बच्चे के लिए माता के स्तन का काम देता है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना सा है कि माता के स्तन को चूसने से दूध और सुख दोनों ही मिलते हैं और अँगूठा चूसने से उसे केवल सुख ही मिलता है। बच्चे के लिए सुख की इच्छा प्रधान होती है और यह सुख किसी बाह्य वस्तु से नहीं, अपने ही अङ्ग से उसे मिलता है।

साधारणतः अँगूठे वे बच्चे चूसते हैं जिन्हें माता के स्तन से काफ़ी सन्तोष नहीं मिला होता। माता का दूध स्तन से यदि जल्दी जल्दी या ज्यादा बहता है तो भी बच्चे को सन्तोष नहीं मिलता, क्योंकि इससे उसका पेट तो भर जाता है और नींद

भी आ जाती है पर चूसने से जो सुख मिलता है वह उसे नहीं मिल पाता। इस लिए वह अँगूठे की शरण लेता है।

एक वर्ष के बच्चे के लिए अँगूठा चूसना तो साधारण बात है। अधिकतर बच्चों में इसके बाद धीरे धीरे यह आदत कम हो जाती है। अगर यह आदत रहती भी है तो सिर्फ सोते वक्त या थकान की हालत में। दो और तीन वर्ष के वय में अँगूठा चूसना किसी किसी अवस्था में हो सकता है। पर यदि पाँच वर्ष तक या उसके भी आगे यह आदत बनी रहे तो समझना चाहिये कि इसका कारण मानसिक तथा भावात्मक है। इस आदत को मिटाने के लिये इसका मूल कारण खोज निकालना चाहिये। अँगूठा चूसना तो मानसिक तथा भावात्मक द्वन्द्व का केवल एक बाह्य रूप है। जब तक अन्दर की उलझन नहीं मिटती तब तक बाहर की आदत भी नहीं मिट सकती। जबर्दस्ती से अगर आदत छुड़ाई भी जाय तो उससे आन्तरिक द्वन्द्व और अधिक बढ़ जाता है।

इसी तरह पाखाना और पेशाब जाने की आदतें हैं। बच्चे बहुत उम्र तक बिस्तरों में पाखाना और पेशाब करते हैं तो माता पिताओं को बड़ा क्रोध आता है और इस अपराध के लिए बच्चों की ताड़ना होती है। इस विषय में भी माता-पिताओं को बहुत अधिक समझ की आवश्यकता है। छोटी अवस्था में बच्चों के

लिए यह सरल नहीं है कि माता-पिताओं की आज्ञा के अनुसार पाखाना और पेशाब कर सकें। और फिर बच्चे इसे अन्याय समझते हैं कि इस मामले में उनसे जबर्दस्ती की जाय। इसके अतिरिक्त इस आदत का बच्चे की अन्य मानसिक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध होता है जिसका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। माता-पिताओं को यह ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ आदतों का बच्चे के वय और वृद्धि से सम्बन्ध होता है। छः महीने तक तो बच्चों को इस मामले में पूरी आज़ादी देनी चाहिये। इसके बाद माता-पिताओं को मालूम हो जायगा कि बच्चे किस किस समय पाखाना और पेशाब करते हैं। नियुक्त समय पर उन्हें बिठाने में कोई हानि नहीं है। बच्चा जब एक वर्ष का हो जाय तब माता-पिता उसे यह समझा सकते हैं कि जब उसे पाखाना या पेशाब आये तो वह उन्हें इशारे से बता दे। डेढ़ साल के बच्चे से यह आशा की जा सकती है कि वह अपनी आवश्यकताएँ बता दे। साधारणतः वह अपने कपड़े गन्दे नहीं करता है। यदि इस वय में भी बच्चे यह आदत नहीं सीख लेते तो समझना चाहिये कि कारण उनके भावों से सम्बन्ध रखता है और उनका मन बहुत अधिक चिन्ता-ग्रस्त रहता है।

घर में जब कोई नया बच्चा उत्पन्न होता है तो बच्चे की चिन्ता अधिक बढ़ जाती है और इस समय कभी कभी बनी हुई

आदत भी बिगड़ जाती है। माता-पिताओं को ऐसी चिन्ताओं के कारण ढूंढ निकालने चाहियें और जहाँ तक हो सके बच्चों के मानसिक और भावात्मक द्वन्द्व का हल करने की कोशिश करनी चाहिये, न कि डरा-धमका कर उनकी आदतें बनानी चाहियें।

इस सम्बन्ध में माता-पिताओं के सूचनार्थ एक और बात बता देना आवश्यक है। ५ और ५ वर्ष के वय में बच्चे मलमूत्र को देखने में, छूने में और उसके साथ खेलने में विशेष रुचि रखते हैं। बात यह है कि बड़े लोगों को जिस कारण से अपने मल मूत्र से घृणा होती है उसका ज्ञान बच्चों में नहीं होता। मल-मूत्र को बच्चे अपने शरीर का पदार्थ समझते हैं। इसलिये उनको वे बहुमूल्य समझते हैं। यही कारण है कि उनको और वे बड़ा चाव दिखाते हैं, यहाँ तक कि कभी कभी उनको खा भी जाते हैं।

इस विषय में बच्चों को शिक्षा देना तो आवश्यक है, पर बच्चों की मनोवृत्ति यदि माता-पिताओं को मालूम हो तो वे उनके साथ इस विषय में उतनी सख्ती का बर्ताव न करें जितना कि वे करते हैं।

इस अवस्था में, अर्थात् ३ और ५ वर्ष के वय में, बच्चों में एक और बात पड़ जाती है जिससे माता-पिताओं को बड़ी चिन्ता हो जाती है। बच्चों को इस वय में अपनी जननेन्द्रिय छूने में और

उसे हाथ से दबाने में विशेष सुख मिलता है। यह क्रिया कुछ हद तक प्रायः सभी बच्चों में पाई जाती है। जिस प्रकार अपना अँगूठा चूसने से बच्चे के मुँह के अन्दर के स्थानों को सुख पहुँचता है उसी प्रकार जननेन्द्रिय को छूने से और उसे दबाने से भी सुख मिलता है।

इस क्रिया को रोकने का तरीक़ा यह नहीं है कि बच्चे का हाथ जननेन्द्रिय से खींच लिया जाय या उसे डराया धमकाया जाय। इस मामले में बच्चे को सीधे उपदेश से भी कोई लाभ नहीं होता। ऐसा करने से उसका ध्यान इस ओर और अधिक जाता है। इस क्रिया से और इस प्रकार की अन्य क्रियाओं से, जो बच्चे के शरीर से सम्बन्ध रखती हैं, इतनी ही हानि है कि अगर ये आदतें उसके बड़े होने पर भी बनी रहें तो संसार की बाह्य वस्तुओं की ओर उसकी कोई रुचि नहीं रहती। बच्चे अपने आप ही से सन्तुष्ट हो जाते हैं और समाज के लिये बेकार हो जाते हैं।

इन आदतों को छुड़ाने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि बच्चों के लिये ऐसे खेलों की व्यवस्था की जाय जिनमें उनका जी लग सके और अपने शरीर से उनका ध्यान हट कर अन्य वस्तुओं में लग सके। पहले तो मात-पिताओं को इन क्रियाओं के प्रति घृणा और क्रोध दिखाना ही नहीं चाहिये, क्योंकि जो क्रियाएँ

स्वाभाविक हैं इन पर घृणा और क्रोध से क्या लाभ। बच्चों को जब यह मालूम हो जाता है कि इन क्रियाओं को माता-पिता निन्दनीय समझते हैं तो वे भी इन्हें घृणित समझने लगते हैं और जिन व्यक्तियों के प्रति उनकी घृणा होती है, चाहे वे माता-पिता ही क्यों न हों, उन्हें चिढ़ाने के लिये वे इन्हें अस्त्रों की तरह काम में लाते हैं। इसलिए यदि माता-पिता इन क्रियाओं से क्रोध और घृणा दिखाएँगे तो इन्हें कम करने के बजाय और अधिक बढ़ा देंगे।

बच्चों की व्यावहारिक शिक्षा की अनेक समस्याओं में से कुछ का यहाँ वर्णन किया गया है। माता-पिताओं के और विशेषतः माताओं के सम्मुख दोहरी समस्या है। उनको बच्चों का पोषक और शिक्षक दोनों ही बनना पड़ता है। पोषक माता को बच्चा प्यार करता है और शिक्षक माता को वह घृणा करता है। पोषक माता बच्चे को दूध पिलाती है, उसके सुख की सामग्री इकट्ठी करती है, उसकी इच्छा को पूरा करने के साधन जुटाती है, पर शिक्षक माता उसे उसका मन-चाहा करने से रोकती है और उसे सभ्य बनाने का प्रयत्न करती है। इसलिये माता के प्रति प्रत्येक बच्चे के मन में प्रेम और घृणा दोनों ही के भाव रहते हैं। कौन सा भाव प्रधान होगा यह माता के व्यवहार पर निर्भर है।

पिता द्वारा बच्चे की शिक्षा

जब बच्चा अपनी माता के गर्भ के बाहर आता है तो उस के आस-पास की चीजें उसे एक धुँधले-पन के आकार में दिखाई देती हैं। वह चीजों को उनके भिन्न भिन्न आकार में नहीं पहिचानता। पर वह जन्म के पहिले या दूसरे महीने में अपनी माता के स्पर्श को पहिचानने लगता है। जब वह चिल्लाता है और माता की आवाज सुनता है या उसे पास आती हुई देखता है तो फ़ौरन चुप हो जाता है। अभी वह माता में और अन्य व्यक्तियों में भेद नहीं समझता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी माता के ही आकार में देखता है।

जब बच्चा पाँच छः महीने का होता है तब वह अपने पिता को अच्छी तरह पहिचानने लगता है। वह पिता को एक महान् शक्ति-शाली और बुद्धिमान् व्यक्ति समझता है और उसके समान होने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक काम में पिता की इसी लिये नक़ल करना शुरू करता है। उसकी यह इच्छा होती है कि वह भी पिता के समान हो जाय। पिता के लिये उसके मन में श्रद्धा और भय दोनों ही होते हैं।

जब बच्चा दो तीन वर्ष का होता है तब उसके सामने एक नई परिस्थिति उपस्थित हो जाती है। वह देखता है कि अपनी माता के प्रेम का वह अकेला अधिकारी नहीं है। वह यह नहीं चाहता कि

स्वाभाविक हैं उन पर घृणा और क्रोध से क्या लाभ। बच्चों को जब यह मालूम हो जाता है कि इन क्रियाओं को माता-पिता निन्दनीय समझते हैं तो वे भी इन्हें घृणित समझने लगते हैं और जिन व्यक्तियों के प्रति उनकी घृणा होती है, चाहे वे माता-पिता ही क्यों न हों, उन्हें चिढ़ाने के लिये वे इन्हें अस्त्रों की तरह काम में लाते हैं। इसलिए यदि माता-पिता इन क्रियाओं से क्रोध और घृणा दिखाएँगे तो इन्हें कम करने के बजाय और अधिक बढ़ा देंगे।

बच्चों की व्यावहारिक शिक्षा की अनेक समस्याओं में से कुछ का यहाँ वर्णन किया गया है। माता-पिताओं के और विशेषतः माताओं के सम्मुख दोहरी समस्या है। उनको बच्चों का पोषक और शिक्षक दोनों ही बनना पड़ता है। पोषक माता को बच्चा प्यार करता है और शिक्षक माता को वह घृणा करता है। पोषक माता बच्चे को दूध पिलाती है, उसके सुख की सामग्री इकट्ठी करती है, उसकी इच्छा को पूरा करने के साधन जुटाती है, पर शिक्षक माता उसे उसका मन-चाहा करने से रोकती है और उसे सभ्य बनाने का प्रयत्न करती है। इसलिये माता के प्रति प्रत्येक बच्चे के मन में प्रेम और घृणा दोनों ही के भाव रहते हैं। कौन सा भाव प्रधान होगा यह माता के व्यवहार पर निर्भर है।

पिता द्वारा बच्चे की शिक्षा

जब बच्चा अपनी माता के गर्भ के वाहर आता है तो उस के आस-पास की चीजें उसे एक धुँधले-पन के आकार में दिखाई देती हैं। वह चीजों को उनके भिन्न भिन्न आकार में नहीं पहिचानता। पर वह जन्म के पहिले या दूसरे महीने में अपनी माता के स्पर्श को पहिचानने लगता है। जब वह चिल्लाता है और माता की आवाज सुनता है या उसे पास आती हुई देखता है तो फ़ौरन चुप हो जाता है। अभी वह माता में और अन्य व्यक्तियों में भेद नहीं समझता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी माता के ही आकार में देखता है।

जब बच्चा पाँच छः महीने का होता है तब वह अपने पिता को अच्छी तरह पहिचानने लगता है। वह पिता को एक महान् शक्ति-शाली और बुद्धिमान् व्यक्ति समझता है और उसके समान होने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक काम में पिता की इसी लिये नक़ल करना शुरू करता है। उसकी यह इच्छा होती है कि वह भी पिता के समान हो जाय। पिता के लिये उसके मन में श्रद्धा और भय दोनों ही होते हैं।

जब बच्चा दो तीन वर्ष का होता है तब उसके सामने एक नई परिस्थिति उपस्थित हो जाती है। वह देखता है कि अपनी माता के प्रेम का वह अकेला अधिकारी नहीं है। वह यह नहीं चाहता कि

उस की माता उसके अलावा और किसी को प्यार करे। ज्यों ज्यों वह अधिक समझदार होता जाता है, त्यों त्यों वह माता और पिता के प्रेम को अधिक ईर्षा की दृष्टि से देखता है। वह धीरे धीरे यह अनुभव करने लगता है कि माता के ऊपर जो उसके प्रेम का आधिपत्य था वह अब छिना जा रहा है। पिता को वह अपने प्रेम के मार्ग में काँटा समझता है और वह चाहता है कि किसी तरह यह काँटा उसके मार्ग से दूर हो। वह अपने पिता की मृत्यु चाहता है। उसके मन में पिता के प्रति प्रेम और घृणा दोनों ही होते हैं, और दोनों भावों में द्वन्द्व होता रहता है। इसी का परिणाम है कि वह घर में कभी कभी बिना कारण ही झगड़े करता है, चौंककर चीख पड़ता है, क्रोध और हठ करता है और जान-बूझकर आज्ञा के विपरीत काम करता है।

इस अवस्था में बच्चे के मन में चिन्ता होने लगती है। उसे यह डर होने लगता है कि कहीं पिता उससे बदला न ले और पिता जब कभी डाँटता फटकारता है या पीटता है तो वह विश्वास कर लेता है कि यह सब उसके पिता के प्रति ईर्षा करने का फल है। धीरे धीरे बच्चा यह समझने लगता है कि उसकी यह ईर्षा और क्रोध व्यर्थ हैं, पिता उससे कहीं अधिक शक्तिशाली है, इसलिये यहाँ विजय की आशा करना मूर्खता है। उसके मन में पिता के प्रति प्रेम और श्रद्धा के भाव भी होते हैं। ये भी

ज़ोर लगाते हैं और अन्त में वह पिता से सन्धि कर लेता है। जो बच्चे सन्धि नहीं कर पाते हैं और ईर्षा को दबा नहीं सकते हैं वे अन्त में दुर्बल हो जाते हैं और कई मानसिक रोगों के शिकार बनते हैं। साधारणतः बच्चे ५ या ६ वर्ष की अवस्था तक सन्धि कर ही लेते हैं। पर यह समय बच्चों के लिये बड़े तनाव और चिन्ता का होता है। जितनी सफलता से वे अपने मानसिक द्वन्द्व को हल करते हैं उतनी ही अच्छी तरह से वे समाज में जम पाते हैं। यह द्वन्द्व बिल्कुल ही हल नहीं हो पाता। इसका प्रभाव जीवन पर सदा के लिये बना रहता है।

इस द्वन्द्व के बाद बच्चा अपने ही लिङ्ग वाले बच्चों से प्रेम करने लगता है। बच्चों से उसकी गाढ़ी मित्रता होने लगती है। स्त्री-जाति को तो वह माता के रूप में देखता है। पिता के कारण माता पर आधिपत्य नहीं जमा सकता, इस लिये वह पिता से सन्धि करता है और उसी के लिङ्गवालों से स्नेह करने लगता है। पर यहाँ भी उसे छूट नहीं मिलती। माता-पिता और सभी लोग उसे इसके लिए दोषी ठहराते हैं। वह सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। इससे बच्चे के मन को बड़ी चोट पहुँचती है और वह समाज की इस क्रूरता के कारण उसकी हरएक बात का विरोध करने लगता है।

युवावस्था में पहुँचने पर बच्चा फिर से स्त्री के प्रेम को चाहना करता है।

यह द्वन्द्व लड़का और लड़की दोनों ही में होता है। लड़के का झगड़ा पिता से और लड़की का झगड़ा माता से होता है, क्योंकि लड़का माता पर अपने प्रेम का आधिपत्य चाहता है और लड़की पिता पर और माता-पिता बीच में दखल देते रहते हैं।

माता-पिता बच्चों के द्वन्द्व को हल करने में और उनका मानसिक क्लेश हटाने में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं? कुटुम्ब की स्थिति ही ऐसी है कि यह द्वन्द्व अनिवार्य है। माता-पिता यदि यह समझ लें कि किन स्थितियों में वे बच्चों पर शासन करें और किन स्थितियों में उन्हें पूरी स्वतन्त्रता दें तो इस द्वन्द्व के हल करने में वे बच्चों की थोड़ी बहुत सहायता कर सकते हैं।

कभी कभी तो बात माता-पिताओं के बस की नहीं होती है; क्योंकि उनके ही मन में इस प्रकार का द्वन्द्व चला करता है, यदि उनके माता-पिताओं ने उनके साथ समझदारी से काम नहीं लिया।

स्त्री पुरुष भेद की शिक्षा

जब बच्चा २ या २॥ वर्ष का होता है तब वह सोचने लगता

है। वह नई वस्तुओं को जानने का प्रयत्न करता है और नये नये नाम सीखता है। संसार की अन्य वस्तुओं के साथ साथ वह अपने शरीर के भिन्न भिन्न अङ्गों के नाम भी जानने लगता है। वह यह भी जान लेता है कि उसके कुछ अङ्ग उसे ढके रहना चाहिये, उनको खुले रखने में लोग बुरा मानते हैं। जब कभी वह उन अङ्गों के नाम माता-पिताओं से पूछना चाहता है तो या तो उसे धमकाया जाता है या उसे यह कहा जाता है कि ये गन्दी बातें हैं। उसे उन अङ्गों के झूठे नाम बताये जाते हैं। लड़के और लड़की के शरीर की बनावट में भेद होता है। उनको यह जानने की इच्छा होती है कि ये भेद क्यों हैं और ये किस काम के हैं। बच्चे यह भी जानना चाहते हैं कि वे कहाँ से पैदा होते हैं और माता और पिता का परस्पर क्या सम्बन्ध है। माता-पिता से जब बच्चों को सन्तोषजनक और सच्चा उत्तर नहीं मिलता तब वे अपनी जिज्ञासा अन्य लोगों से या साथियों से तृप्त करने का यत्न करते हैं। उन्हें इन विषयों में अधूरा या भ्रामक ज्ञान मिलता है जिससे उनके भविष्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और उन्हें बड़ा दुःख उठाना पड़ता है।

माता-पिताओं के लिये यह सोचने की बात है कि ऐसे महत्त्व के विषय में यदि बच्चों को साफ़ और सच्चा ज्ञान न कराया जाय तो उनके जीवन में कैसी हलचल मची रहेगी। समाज की दृष्टि

घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। पर केवल ईर्षा और घृणा के भाव ही नहीं होते, प्रेम और सहृदयता के भाव भी समान रूप से होते हैं। कौन से भाव प्रधान होंगे और किधर बच्चों का झुकाव होगा यह बहुत कुछ माता-पिता के व्यवहार पर निर्भर है। माता-पिता ही उनके भविष्य और भाग्य के निर्माता हैं।

बच्चे का दूध छुड़ाना

बच्चा जब थोड़ा बड़ा हो जाता है तो प्रत्येक माता के सामने दूध छुड़ाने की समस्या उपस्थित होती है। बच्चा आसानी से माता का दूध नहीं छोड़ता और माता छुड़ाना चाहती है। दोनों में द्वन्द्व होता है। दूध छुड़ाने के लिये माँ तरह तरह के प्रयोग करती है। बच्चे के साथ वह ऐसा व्यवहार करती है जिस से उसके मन में माता के स्तनों के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाय। कभी वह नीम की पत्तियों का या और किसी कड़वी वस्तु का लेप भी कर देती है जिससे बच्चा स्तनवृन्त को मुँह में लेते ही हट

जाय। बच्चा बार बार स्तन को मुँह में लेता है और कड़वी होने के कारण बार बार उसे छोड़ता और चिल्लाता है। अन्त में वह हार मान लेता है और सदा के लिये माता के स्तनों से मुँह मोड़ लेता है।

अब तक हम बच्चे के मानसिक और भावात्मक जीवन से बिल्कुल अनभिज्ञ थे, इसलिये हमें यह बात मालूम नहीं थी कि बच्चे पर ऐसे व्यवहार का कितना बुरा असर पड़ता है। मनोविश्लेषण ने हमें बताया है कि दूध छुड़ाने का समय बच्चे के जीवन में एक बड़े भारी तूफान का समय होता है। यदि इससे बचकर वह अच्छी तरह निकल जाता है तो उसका मानसिक स्वास्थ्य और भावात्मक जीवन सुखमय होता है। और यदि इसके कारण उसके मन में ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं तो उसका भविष्य बिगड़ जाता है।

मनुष्य का कल्पनात्मक जीवन जन्म से ही शुरू हो जाता है। उसके मन में तरह तरह की कल्पनाएँ और इच्छाएँ उठती रहती हैं। ये कल्पनाएँ और इच्छाएँ मन पर अपनी अपनी छाप सदा के लिए छोड़ जाती हैं। इन्हीं से मनुष्य का अज्ञात मन बनता है। यही अज्ञात मन मनुष्य के मानसिक और भावात्मक जीवन पर बराबर प्रभाव डालता रहता है।

प्रारम्भ-काल में बच्चे में जो भाव जाग्रत होते हैं वे बाहर के और भीतर के अनुभवों के कारण होते हैं। स्तन-द्वारा बच्चे को पहली तृप्ति मिलती है। यह तृप्ति दो प्रकार की होती है। एक तो वह जो बच्चे को केवल स्तनवृन्त को चूसने में मिलती है। इससे उसके पेट भरने से कोई सम्बन्ध नहीं होता। बच्चे को केवल स्तनवृन्त को मुँह में रखने और उसे चूसने में ही सुख मिलता है। दूसरे प्रकार की जो तृप्ति होती है उसका सम्बन्ध बच्चे की भूख से होता है। अमृत से दूध की धारा जो गले से उतर कर बच्चे के पेट में पहुँचती है उससे बच्चे को तृप्ति और पुष्टि मिलती है।

बाहर के पदार्थों के अनुभव जो बच्चे के मन को होते हैं वे या तो सुखद होते हैं या दुःखद। यदि अनुभव दुःख देते हैं तो बच्चे के मन में उन पदार्थों के प्रति घृणा हो जाती है और उनके नाश करने की इच्छा होती है। और यदि अनुभव उसे सुख देते हैं तो बच्चा उन पदार्थों को प्रेम की भावना से देखता है।

जन्म ही से बच्चे में प्रेम और घृणा के भाव उठने लगते हैं। किसी पदार्थ के अनुभव होते ही उसके मन में कुछ न कुछ भाव जाग्रत हो जाते हैं। यदि अनुभव सुखदाई है तो प्रेम के भाव, और दुखदाई है तो घृणा के।

प्रारम्भ-काल में बच्चे की सब भावनाएँ माता के स्तन के प्रति होती हैं, क्योंकि बचा माता के स्तन के अलावा और किसी पदार्थ का अनुभव नहीं करता। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी विकसित नहीं होतीं जितनी हमारी होती हैं। इस कारण वह अपनी माता को भी नहीं पहिचानता। वह तो केवल उसके स्तनों को जानता है। इस कारण उसके सारे प्रेम या उसकी सारी घृणा के पात्र माता के स्तन ही होते हैं। स्तन जब बच्चे को तृप्ति पहुँचाते हैं तब तो वे 'अच्छे' हो जाते हैं और जब उसे तृप्ति से वञ्चित करते हैं तब 'बुरे' हो जाते हैं। इस तरह बच्चे को 'अच्छे' और 'बुरे' का पहले पहल भान होता है और भविष्य में भी वह 'अच्छाई' और 'बुराई' का इसी तरह निर्णय करता है।

इस निर्णय के साथ बच्चे का मन भी विकसित हो जाता है। उसके मन में 'बुरे' स्तन के प्रति घृणा और उसका नाश करने की इच्छा उठती है। घृणा तो वह स्वयं करता है, परन्तु समझता है कि वह पदार्थ उससे घृणा कर रहा है। इस कारण उस पदार्थ के प्रति उसके मन में भय उत्पन्न होता रहता है।

इसी प्रकार उसके मन में एक और क्रिया होती रहती है। इस वय में बचा अपने नाक, कान, आँख, भवों आदि इन्द्रियों द्वारा बाहर के पदार्थों के अनुभवों को प्राप्त करता रहता है। अपनी माता के स्तनों को वह बराबर मुँह में लेता रहता है

और अपने मन में कल्पना करता है कि माता के स्तनों को वह चूसकर, चबाकर और निगलकर अपने शरीर में प्रविष्ट कर रहा है। तदुपरान्त वह अनुभव करने लगता है कि स्तन 'अच्छे' और 'बुरे' दोनों ही रूप में उसके भीतर विराजमान हैं। इसी प्रकार वह संसार के अन्य पदार्थों को भी अपने भीतर प्रविष्ट कराता रहता है।

दो-तीन वर्ष के बच्चे की दुनिया सुख और घृणा उत्पन्न करने वाले पदार्थों से ही भरी रहती है। इसका कारण यह है कि वह संसार के पदार्थों को पूरे रूप में नहीं देखता, उनके अधूरे रूप को ही देखता है। वह यह नहीं पहिचानता कि स्तन माता का केवल एक अङ्ग है, वह स्वयं माता नहीं है। यही बात अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी होती है। पर धीरे धीरे बच्चा जब स्तन को चूसता हुआ माता के मुख को देखता है और अपनी अँगुलियों से उसके शरीर को भी स्पर्श करता है तो वह समस्त माता को पहिचानता है। यदि उसे दूध पीते समय सुख मिलता है तो उसके मन में माता का जो चित्र होता है वह सुख और प्रेम से परिपूर्ण होता है और यदि उसे दुःख होता है तो वह चित्र विकराल रूप का होता है। इसी तरह बच्चा अपने मन में अपने सारे संसार के चित्र बनाता है। यदि उसे माता के स्तनों द्वारा सुख मिला है तो वह संसार के सभी पदार्थों में विश्वास

करता है और उनकी ओर उसकी प्रेम-भावनाएँ होती हैं और यदि माता के स्तनों से उसे अतृप्ति और निराशा मिली है तो उसका संसार के अन्य पदार्थों में अविश्वास होता है और वह उनसे घृणा करता है।

श्रीकृष्ण के चरित्र में हमें यह घटना मिलती है कि श्रीकृष्ण को मारने के लिये पूतना नाम की एक राक्षसी उनके घर गई और उन्हें अपने विष के स्तन चुसा कर उनसे मारना चाहा। श्री कृष्ण की आदत थी कि वे किसी के भी स्तन चूस लेते थे। जब पूतना आई तो उसके स्तन उन्होंने इतने जोर से चूसे कि वह बिचारी मर गई। श्रीकृष्ण का यह अभिनय प्रत्येक बच्चा अपनी माता के प्रति करता है। स्तन से दूध की धारा निकलती रहती है, उस समय भी वह स्तन की ओर ओर से होठों से दबाता रहता है, हाथ से खींचता रहता है और दांतों से काटता रहता है। यह क्यों? जब बच्चा माता के स्तनों पर आक्रमण करता है तो वह अपनी घृणा को ही प्रकट करता है, उन्हें पूतना के स्तनों की तरह विष के स्तन समझता है। ज्यों-ज्यों उसके दाँत निकलने का समय समीप आता जाता है त्यों-त्यों उसमें आक्रमण करने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ती जाती है। जब बच्चा अपनी माता को पूरे रूप में पहिचानने लगता है, उस समय उसकी घृणा और आक्रमण करने की प्रवृत्ति सब से बड़ी चढ़ी होती है।

इसी समय बच्चे में अपनी माता के प्रति एक नया भाव जाग्रत होता है। अब तक वह स्तनों द्वारा ही सुख मानता था। पर जब उसके मन का कुछ विकास हो जाता है तो वह मन में यह समझने लगता है कि सचमुच सुख का स्रोत स्तन नहीं, उस की माता है। वह माता को पूरे रूप में पहिचानने लगता है और उसे प्रेम की दृष्टि से देखने लगता है।

यह समय बच्चे के लिये बड़े मानसिक द्वन्द्व का होता है। एक ही माता के प्रति उसके मन में प्रेम और घृणा के भाव होते हैं। इस कारण उसके मन में बड़ी गहरी उथल-पुथल मची रहती है। बच्चे के मन में माता के प्रति प्रेम तो प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु उस घृणा की भावना का, जो एक बार बन चुकी है, एकदम नाश नहीं हो पाता। अतः बच्चा समझने लगता है कि उसने घृणा करके माता के प्रति बड़ा पाप किया है। इस पाप का भय उसे हर समय सताता रहता है।

बच्चे का मन शान्त और सुखमय हो इसके लिये आवश्यक है कि प्रेम, घृणा और पाप के भावों पर उसका पूरा अधिकार रहे। यदि किसी कारण से वह इस ग्रन्थि को नहीं सुलझा सकता है तो उसे भविष्य जीवन में बड़ा मानसिक दुःख उठाना पड़ता है। भविष्य में जो निराशाएँ होती हैं और निराशाओं के कारण जो मनुष्य का मन गिर जाता है, उसका विश्लेषण करने

पर पता चलता है कि बचपन की यही ग्रन्थि उसका कारण होती है। इस ग्रन्थि के भली प्रकार न सुलझने से मनुष्य के चरित्र में और भी कई दोष और दुर्बलताएँ आ जाती हैं।

जब यह ग्रन्थि भली प्रकार सुलझ जाती है और जब बच्चा अपनी घृणा और माता की मृत्यु के भय को वश में कर लेता है, तब वह ऐसी कल्पनाएँ करता है जिनसे वे सब काम बन जायँ जो उसकी घृणा और आक्रमण करने की प्रवृत्ति के कारण बिगड़े हैं। बच्चे के जितने भी सृजनात्मक कार्य होते हैं वे इसी प्रवृत्ति के कारण होते हैं। बच्चा जब मिट्टी के घर बनाता है, या एक ईंट के ऊपर दूसरी ईंट रखता है, या अन्य ऐसे सृजनात्मक खेल खेलता है, तब वह अपनी कल्पना में अपने पाप को धोता है। माता के प्रति जो घृणा उसने दिखाई है और जो आक्रमण उसने किया है उसी के प्रायश्चित्त-स्वरूप वह अब चीजें बनाता है और इस तरह अपने पाप-भार को कम करता है। बच्चे में आगे जाकर जो मनुष्य के प्रति प्रेम के भाव और समाज-सेवा के भाव उत्पन्न होते हैं वे भी इसी प्रवृत्ति के कारण होते हैं।

इस घृणा को बच्चा कैसे वश में कर सकता है? इसका उपाय एक ही है और वह यह कि माता बच्चे के साथ प्रेम का व्यवहार करे। ऊपर यह कहा जा चुका है कि बच्चा यह अनुभव करता है कि माता के स्तनों को और अन्य पदार्थों को वह अपने भीतर

ले रहा है। जब वह माता को पहिचानने लगता है तो माता को और धीरे-धीरे पिता को भी अपने भीतर पाता है। 'भीतर' की माता 'अच्छी' और 'बुरी' दोनों होती हैं। पर यदि वास्तविकता में माता का व्यवहार अच्छा रहा है तो भीतर की माता प्रायः अच्छी रहती है और बच्चे के जीवन पर अच्छा प्रभाव डालती रहती है। बच्चा यह जानता नहीं है कि उसके भीतर कोई व्यक्ति बसता है जो उसके जीवन पर प्रभाव डालता रहता है। यह प्रभाव तो अज्ञात होता है। भीतर का प्रभाव यदि अच्छा है तो बालक में आत्मविश्वास बढ़ता है और वह अपनी घृणा और घृणा के कारण उत्पन्न भय को आसानी से वश में कर लेता है और इस प्रकार उसमें संसार के अन्य लोगों के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है।

पाठकों को इससे यह मालूम हो गया होगा कि बच्चे का दूध छुड़ाने की समस्या सरल नहीं है। हम अपने अज्ञान के कारण इसे सरल समझते हैं। बच्चे का अपनी माता के स्तनों से वञ्चित होना उसके जीवन में एक बहुत बड़ी घटना है और हमको उसे पूरी महत्ता देनी चाहिये।

बच्चा जब माता के स्तन को चाहता है और वह उसे नहीं मिलता तो वह बड़े ज़ोर से चिल्लाता है। उसे यह डर लगता है कि उसकी माता और स्तन सदा के लिये कहीं खो गये हैं। इस

नहीं रखना चाहिये कि बच्चे की मानसिक और आयात्मक वृद्धि का कुछ भी ध्यान न रहे। कुछ बच्चों की बनावट ही ऐसी होती है कि वे बिना दूध पिये देर तक नहीं रह सकते। ऐसे बच्चों के लिए नियम बहुत कड़ा नहीं रखना चाहिये और तीन-तीन घण्टों के बाद ही इन्हें दूध देना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो इससे भी कम समय में दूध दिया जाय।

बच्चे को रबर की चूची या 'कम्फर्टर' देने से भी कभी कभी लाभ होता है। पर इससे जो हानियाँ हो सकती हैं उनका भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। एक तो यह कि कम्फर्टर को बराबर साफ रखना चाहिये। अगर यह गन्दा होगा तो बच्चे को कोई भी रोग लग सकता है, क्योंकि बच्चा उसे अक्सर मुँह में लेता रहता है। इसके अतिरिक्त उससे एक और हानि हो सकती है और वह यह कि बच्चे को कम्फर्टर में से दूध न मिलने से निराशा होती है। और वह यह समझता है कि उसे जान बूझ-कर धोखा दिया जा रहा है। पर कम्फर्टर से एक लाभ यह अवश्य होता है कि बच्चे की चूसने की इच्छा तृप्त होती रहती है। इसके मिल जाने से वह अपनी अँगुलियों को और अँगूठों को कम चूसता है। कम्फर्टर द्वारा हम बच्चे की चूसने की आदत को आसानी से नियमित बना सकते हैं और धीरे-धीरे छुड़ा भी सकते हैं।

अँगूठे के चूसने के विषय में लोगों में मतभेद है। कुछ लोगों का तो कहना है कि बच्चे को अँगूठा चूसने से रोकना नहीं चाहिये; जहाँ तक बन पड़े हम उसे हताश न करें। यदि बच्चे की इस आदत को हम एकदम जबरदस्ती से रोक देंगे तो बच्चे में हस्तमैथुन की लत अधिक पड़ जाने की आशंका है, क्योंकि बच्चे की अँगूठा चूसने की क्रिया में और हस्तमैथुन में बड़ा घना सम्बन्ध होता है। इसके अलावा अगर जबरदस्ती से बच्चे की यह आदत छुड़ाई जाती है तो उसमें और भी कई व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। बिस्तरों में पेशाब करना, तुतलाना, रात को डर कर और रोकर चिल्लाना इत्यादि जो रोग हो जाते हैं वे अक्सर इस क्रिया को रोकने से होते हैं।

पर कुछ लोगों का कहना है कि बच्चे को इस क्रिया में बिल्कुल स्वच्छन्द छोड़ने से हानि होती है। उसकी शक्ति एक ही जगह, अँगूठा चूसने ही में, ख़र्च होने लगती है और उसकी मानसिक तथा भावात्मक वृद्धि पूरी हो नहीं पाती है। अक्सर यह देखा गया है कि जो बच्चा बहुत दिनों तक अँगूठा चूसता रहता है वह बोलना बहुत देर से शुरू करता है और कभी कभी तो उसे शारीरिक हानि भी पहुँचती है। उसके अँगूठे में घाव हो जाता है और उस घाव से उसे कष्ट होता है। एक ही क्रिया से एक ही साथ सुख और दुःख दोनों ही मिलना बच्चे के मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

मेरी समझ में बच्चों से बिना जबरदस्ती किये और उनकी स्वतन्त्रता में बिना अधिक बाधा पहुँचाये उनकी अँगूठा चूसने की आदत छुड़ाई जा सकती है। कम्फर्टर के अलावा हम उन्हें ऐसी चीजें दे सकते हैं, जैसे मिठाई, फल इत्यादि, जिनसे उनके मुँह की इच्छा तृप्त हो जाय और धीरे धीरे वे अँगूठे का चूसना छोड़ दें।

बच्चे का दूध छुड़ाने का सब से अच्छा समय आठवाँ या नवाँ महीना है, पर इसमें कोई कड़ा नियम नहीं है। यदि बच्चे की शारीरिक और मानसिक अवस्था अच्छी नहीं है या गर्मी के दिन हैं तो बच्चे को ग्यारह बारह महीनों तक भी आसानी से माता का दूध पिला सकते हैं। उस समय इस बात का जरूर ध्यान रखना चाहिये कि किसी डाक्टर की सलाह लेकर बच्चे के पेट में बाहर से उचित रूप में कुछ भोजन पहुँचाया जाय।

बच्चे का दूध छुड़ाने के दो तीन महीने पहले उसे दिन में एक बार स्तन के बजाय बोतल से दूध पिलाना चाहिये और धीरे-धीरे हर एक महीने में एक एक बोतल बढ़ाते जाना चाहिये जिससे धीरे धीरे बच्चा बोतल का आदी हो जाय। इसके साथ ही साथ उसे कुछ उचित बाहरी भोजन, जैसे टमाटर या नारंगी का रस आदि, चम्मच से देते रहना चाहिये जिससे वह बाहर के भोजन को ग्रहण करना सीखे। उसे उसकी रुचि के अनुसार

ही भोजन देना चाहिये और जो चीज़ उसे पसन्द हो वही खिलानी चाहिये। उसके खाने में जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये। बच्चे का जब दूध छुड़ाया जाता है तो उसे कुछ भोजन के पदार्थों से घृणा हो जाती है। कुछ बच्चे तरल भोजन, जैसे हलुवा, खिचड़ी, दलिया आदि तो खा लेते हैं पर उन्हें अगर कोई ऐसी चीज़ दी जाये जिसे उन्हें चबाने की आवश्यकता पड़े तो वे आसानी से नहीं खा सकते हैं। चबाने के साथ उनके मन में पाप-भावना का सम्बन्ध होता है, क्योंकि अपने अज्ञात मन में उन्होंने अपनी माँ के स्तन को चबाकर खा डाला है। इसी तरह कुछ बच्चों को तरल भोजन से घृणा हो जाती है। उनके मन में होता है कि पियेंगे तो माता ही का दूध, वरना कुछ नहीं। ऐसे हठ बच्चों में अक्सर हो जाया करते हैं। माता-पिताओं को इनसे घबराना नहीं चाहिये, क्योंकि इन आदतों का सम्बन्ध बच्चे की मानसिक ग्रन्थियों से होता है और धीरे धीरे वह इनको वश में कर लेता है। खाने-पीने के मामले में माता को जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये और न बहुत अधिक कहना ही चाहिये, क्योंकि यदि एक बार माता बच्चे से कहेगी तो वह बार बार माता के आदेश की अपेक्षा करेगा और जब तक माता कहे या डाटे नहीं या उसे कुछ इनाम का लालच न दे, वह नहीं खायेगा। माता एक बार बच्चे से कहे और वह न खाये तो फिर उसे उसी तरह छोड़

देना चाहिये। यदि बच्चे को खाते समय दूसरे बच्चे का संग मिल जाये तो उसका यह हठ जल्दी ही कम हो जाता है, क्योंकि वह दूसरे बच्चों को खाते हुए देखता है और उसके अज्ञात मन को विश्वास हो जाता है कि खाने से किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती है। उसकी मानसिक चिन्तायें इस प्रकार कम हो जाती हैं।

प्रारम्भ-काल में बच्चे को माता के स्तन से दूध पिलाना तो सब से अच्छा है, पर यदि माता रुग्णावस्था में हो या किसी कारणवश बच्चे को स्तन का दूध पिलाने से हानि होती हो तो उसे बोतल से दूध पिला सकते हैं। बोतल से बच्चे को दूध तो मिल जाता है और कुछ हद तक उसकी मुँह से चूसने की इच्छा भी तृप्त हो जाती है, पर जो सुख उसे माता के स्तन से मिलता है वह चूसनी से नहीं मिल सकता। बोतल बोतल ही है और स्तन स्तन ही। बोतल से दूध पिलाते वक्त माता को यह जरूर ध्यान में रखना चाहिये कि वह यह काम किसी नौकर या धाय को न सौंप दे, क्योंकि बच्चे का दूध पीना एक शारीरिक क्रिया मात्र नहीं है। इसके साथ उसके मानसिक और भावात्मक सम्बन्ध भी हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके माता को स्वयं अपने हाथों से, प्रेम से लिटा कर, बच्चे को दूध पिलाना चाहिये और बोतल को उसी तरह रखना चाहिये जिस तरह स्तन रहता है। इससे बच्चे को स्तन का कुछ सुख मिल जाता है।

बच्चे का जब दूध छुड़ाया जाय तब इस बात का पूरा ध्यान रक्खा जाय कि उसके जीवन में कोई दूसरा धक्का न पहुँचे। दूध छोड़ने से बच्चे के जीवन में एक बड़ा धक्का पहुँचता है और इसी के साथ यदि कोई दूसरा धक्का पहुँचे तो बच्चा उसको सहन नहीं कर सकता है। दूध छुड़ाते ही माता बच्चे को छोड़ कर कहीं चली जाये या दूध छोड़ते समय उसे किसी दूसरे घर में या अपरिचित वातावरण में पहुँचा दिया जाये या कोई चीरा लगवाया जाये तो उसे बड़ी हानि पहुँचती है। बच्चे के शरीर और मन का ढाँचा कोमल होता है और एक साथ वह ऐसे दो धक्कों को सह नहीं सकता है। इस लिए माता-पिता को चाहिये कि जहाँ तक हो सके ऐसी स्थितियों से बच्चे को बचाएँ।

पाठकों को यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि बच्चे का दूध छुड़ाना जितना आसान समझा जाता है उतना आसान है नहीं। दूध छुड़ाने का बस यही अर्थ नहीं है कि माता के स्तन को या बोतल को छुड़ाकर बच्चे को और बाहरी भोजन दे देना। इसके साथ बच्चे के भावात्मक और मानसिक जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बच्चा बाहर का भोजन तो किसी न किसी तरह ग्रहण कर ही लेता है, क्योंकि भूख को कोई भी रोक नहीं सकता। पर सफल दूध छुड़ाना उसी को कहते हैं जिसमें बच्चा प्रसन्नता से बाहर का भोजन लेना स्वीकार कर ले और उसके मानसिक

आदत

मेरी एक वर्ष की बच्ची को रात को एक दो बार जागकर दूध पीने की आदत पड़ गई है। इसे हम लोग बोतल से दूध देते हैं। अगर इसके जागने पर दूध न दें तो यह रोती चिल्लाती है और बड़ा झगड़ा करती है। हमारी शुरू से ही कोशिश थी कि इसे रात को दूध न दें। एक दो महीने पहिले यह रात को बिल्कुल दूध नहीं पीती थी। रात को सोने के बाद फिर यह सवेरे ही जागती थी और दूध मांगती थी। पर हाथ में इस को एक फोड़ा हुआ। उसके कारण इसे बड़ा कष्ट हुआ। जब

से यह रात को फिर दूध माँगने लगी और हमने भी इसे दूध देना शुरू किया। अब इसे रात को दूध पीने की आदत पड़ गई है। जरा सी भी दूध देने में देर हो जाती है तो यह जोर जोर से चिल्लाती है और हाथ पाँव पटकती है। इसका यह व्यवहार असाधारण सा है, क्योंकि दिन में दूध देने में देरी हो जाय तो यह उतना नहीं रोती चिल्लाती जितना कि रात को।

रात को दूध पीने की आदत बुरी है। बच्चे के स्वास्थ्य पर इसका बुरा असर पड़ता है और माता-पिता की नींद में बाधा पहुँचती है। यह आदत कैसे बन गई और कैसे मिटाई जा सकती है? यही समस्या हमारे सामने है। ऐसी समस्याएँ प्रत्येक माता-पिता के सामने आती हैं।

आदत हमारे भाव, विचार और कर्म की धीरे-धीरे बनी हुई प्रवृत्ति का नाम है। यह प्रवृत्ति जन्म से ही हमारे साथ नहीं आती। इसे हम इस संसार में आकर सीखते हैं। भूख तो प्रत्येक बच्चे को जन्म से ही लगती है, पर वह भूख को किस किस तरह तृप्त करे यह वह धीरे-धीरे सीखता है। इसी सीखने का नाम आदत है। इसी तरह सोने की आदत, पाखाना-पेशाब करने की आदत तथा और सैकड़ों आदतें हम सीखते हैं।

यदि प्रत्येक आदत का अच्छी तरह से विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा कि उसके पीछे एक इच्छाशक्ति होती है जो उस आदत

के द्वारा तृप्त होती है। आदत किसी अज्ञात इच्छा की प्रेरणा से बनती है और उसी को तृप्त करने के लिये वह बनी रहती है। अतः अज्ञात इच्छा ही वस्तु है और आदत है केवल उस का एक बाह्य रूप। बिना इस इच्छाशक्ति को समझे किसी आदत को बनाना या मिटाना एक विफल प्रयत्न होता है।

अधिकतर लोग इस अज्ञात इच्छाशक्ति पर तो ध्यान नहीं देते, आदत पर (जो कि इसका केवल बाह्य रूप है) अपने प्रयोग करते हैं। लोगों का यह ख्याल है कि आदत अपने आप ही, बिना और किसी आधार के, सुधारी और बिगाड़ी जा सकती है। मेरे बच्चे की रात को दूध पीने की आदत को मिटाने का एक उपाय तो यह है कि वह जब दूध मांगे तब उसे डरायें-धमकायें अथवा उसे रोने दिया जाने दें जिससे वह अपने आप थक कर शान्त हो जाय। दूसरा उपाय यह है कि हम उसकी शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं की पूरी पूरी जाँच करें और यह पता लगायें कि उसे रात को जगकर दूध मांगने की आवश्यकता क्यों होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं। संभव है, वह शाम को अभी दूध पीकर न सोती हो या उसके मन में कोई विशेष भय और चिन्ता हो। बच्चे की इस आदत को हमने समझने की कोशिश की। पहिले हमने यह जानना चाहा कि वह वास्तव में भूखी है या नहीं। कई बार हम शाम को उसे काफी दूध पिला

कर सुलाते, तब भी वह जग पड़ती और दूध की बोतल के लिए रोने-चिल्लाने लगती। और हमने यह देखा कि उसके चिल्लाने पर यदि हम उसे गिलास से दूध पिलाना चाहते तो वह कभी नहीं पीती। दिन में तो जब भूख होती है तो वह कभी-कभी गिलास से पी लेती है। वास्तव में उसे बोतल की आवश्यकता होती है। बोतल में हमने एक दो बार दूध के बजाय पानी भर दिया। इसका उसने कुछ भी ध्यान नहीं किया। चूची को मुँह में लेकर और थोड़ी देर उसे चूस कर वह फिर सो गई।

जिन्होंने बच्चों के अज्ञात मन का विश्लेषण किया है वे जानते हैं कि बच्चे माता का जब तक दूध पीते हैं तब तक उन के मन में माता के स्तनों के प्रति प्रेम और घृणा के मिश्रित भाव होते हैं। अपनी घृणा के कारण उनमें माता पर हमला करने की भी इच्छा होती है और इसी से डरते हैं कि कहीं माता बदला न ले। बच्चे को कुछ भी कष्ट होता है तो वह यही समझने लगता है कि अपनी माता के प्रति जो रोष उसने किया था यह उसी का बदला है। मेरा विचार है कि जब मेरी बच्ची के फोड़ा हुआ तो उसके मन में भी इसी प्रकार का डर पैदा हुआ। फोड़े को उसने अपनी माता के प्रति उत्पन्न हुई घृणा का बदला समझा और उसके साथ ही साथ उसके मन में चिन्ता उत्पन्न हुई। उसी चिन्ता को दूर करने का एक साधन यह हुआ

कि वह उस बोतल की शरण ले जो कि उसके माता के स्तन के स्थान पर थी और जो उसे सान्त्वना दे सकती थी कि उसका भय और उसकी चिन्ता निराधार है और उसे अब भी माता के स्तन मिल सकते हैं, वे उसकी घृणा से नष्ट नहीं हो गये हैं। इसके अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है ?

यदि रात को रोने-चिल्लाने का और दूध माँगने का यही कारण है तो फिर बच्ची को डराने-धमकाने से लाभ के स्थान में हानि ही होगी। डराने-धमकाने से वह यह समझने लगेगी कि उसका डर सच्चा है और माता-पिता वास्तव में उसकी घृणा के कारण उससे क्रुद्ध हैं और उससे बदला ले रहे हैं। ऐसा न करके यदि हम उसकी चिन्ता और भय को मिटा सकें तो यह आदत आसानी से मिट सकती है। इस समय उसके साथ प्रेम का व्यवहार करना आवश्यक है। पर एकदम उसे चुप कैसे रखें ? हम उसे बोतल दे देते हैं और उसमें दूध के बजाय पानी भर देते हैं जिससे उसे बोतल की सान्त्वना मिल जाय, रात को दूध पीने का नुकसान भी न हो और आदत भी मिट जाय। इसी प्रकार सोचकर अन्य आदतों के भी मिटाने के उपाय निकाल लेने चाहियें। इसके लिये माता-पिताओं को बड़े धैर्य से काम लेना होगा।

एक लड़का हाई स्कूल पास करके इंजिनियरिंग कालिज में भर्ती हो गया था और तीन वर्ष तक उसमें पढ़ रहा था। लड़का

पढ़ने-लिखने में बड़ा ही होशियार था पर उसमें चोरी करने की आदत पड़ गई थी। वह होस्टल के लड़कों के चाकू, पेंसिल, कलम और अन्य ऐसी चीजें चुरा लाता था और उनको अपने बक्स में जमा करता था। इन चीजों की उसे जरूरत नहीं थी। वह बस उनको लाकर अपने बक्स में जमा कर लेता था। यह एक ऐसी आदत थी जिसको रोकना चाहने पर भी वह रोक नहीं सकता था। वह जानता था कि यह बुरी बात है, पर तब भी वह चोरी किये बिना नहीं रह सकता था। इस पर कॉलिज के प्रिन्सिपल ने उसे कॉलिज से निकाल दिया। इससे कॉलिज के प्रिन्सिपल ने तो छुट्टी पा ली पर लड़के का कोई भला नहीं हुआ। उसमें वह आदत बनी ही रही। उसका मनोविश्लेषण करने पर पता लगा कि जो वस्तुएँ वह चुराता था वे उसके अज्ञात मन के प्रतीक थे और उनके द्वारा वह पिता के प्रति अपनी घृणा प्रकट कर रहा था। चोरी करके वह अपनी अज्ञात इच्छा को तृप्त कर रहा था। उसे चोरी करने के लिये दंड देना या कॉलिज से निकालना उसके रोग का उपचार नहीं है। ऐसा करने से उस का रोग और बढ़ जाता है, घटता नहीं। यह तो एक असाधारण उदाहरण है, पर हमें अक्सर ऐसे बच्चे मिल जाते हैं जिनको चोरी करने की लत पड़ गई है। बच्चा चोरी करके अपनी किसी अज्ञात इच्छा को तृप्त कर रहा है, यह निश्चय समझना चाहिये।

कि वह उस बोतल की शरण ले जो कि उसके माता के स्तन के स्थान पर थी और जो उसे सान्त्वना दे सकती थी कि उसका भय और उसकी चिन्ता निराधार हैं और उसे अब भी माता के स्तन मिल सकते हैं, वे उसकी घृणा से नष्ट नहीं हो गये हैं। इसके अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है?

यदि रात को रोने-चिल्लाने का और दूध माँगने का यही कारण है तो फिर बच्ची को डराने-धमकाने से लाभ के स्थान में हानि ही होगी। डराने-धमकाने से वह यह समझने लगेगी कि उसका डर सच्चा है और माता-पिता वास्तव में उसकी घृणा के कारण उससे क्रुद्ध हैं और उससे बदला ले रहे हैं। ऐसा न करके यदि हम उसकी चिन्ता और भय को मिटा सकें तो यह आदत आसानी से मिट सकती है। इस समय उसके साथ प्रेम का व्यवहार करना आवश्यक है। पर एकदम उसे चुप कैसे रक्खें? हम उसे बोतल दे देते हैं और उसमें दूध के बजाय पानी भर देते हैं जिससे उसे बोतल की सान्त्वना मिल जाय, रात को दूध पीने का नुकसान भी न हो और आदत भी मिट जाय। इसी प्रकार सोचकर अन्य आदतों को भी मिटाने के उपाय निकाल लेने चाहिये। *इसके लिये माता-पिताओं को बड़े* धैर्य से काम लेना होगा।

एक लड़का हाई स्कूल पास करके इंजिनियरिंग कॉलिज में भर्ती हो गया था और तीन वर्ष तक उसमें वह पढ़ चुका था। लड़का

पढ़ने-लिखने में बड़ा ही होशियार था पर उसमें चोरी करने की आदत पड़ गई थी। वह होस्टल के लड़कों के चाकू, पेंसिल, कलम और अन्य ऐसी चीजें चुरा लाता था और उनको अपने बक्स में जमा करता था। इन चीजों की उसे जरूरत नहीं थी। वह बस उनको लाकर अपने बक्स में जमा कर लेता था। यह एक ऐसी आदत थी जिसको रोकना चाहने पर भी वह रोक नहीं सकता था। वह जानता था कि यह बुरी बात है, पर तब भी वह चोरी किये बिना नहीं रह सकता था। इस पर कॉलिज के प्रिन्सिपल ने उसे कॉलिज से निकाल दिया। इससे कॉलिज के प्रिन्सिपल ने तो छुट्टी पा ली पर लड़के का कोई भला नहीं हुआ। उसमें वह आदत बनी ही रही। उसका मनोविश्लेषण करने पर पता लगा कि जो वस्तुएँ वह चुराता था वे उसके अज्ञात मन के प्रतीक थे और उनके द्वारा वह पिता के प्रति अपनी घृणा प्रकट कर रहा था। चोरी करके वह अपनी अज्ञात इच्छा को तृप्त कर रहा था। उसे चोरी करने के लिये दंड देना या कॉलिज से निकालना उसके रोग का उपचार नहीं है। ऐसा करने से उस का रोग और बढ़ जाता है, घटता नहीं। यह तो एक असाधारण उदाहरण है, पर हमें अक्सर ऐसे बच्चे मिल जाते हैं जिनको चोरी करने की लत पड़ गई है। बच्चा चोरी करके अपनी किसी अज्ञात इच्छा को तृप्त कर रहा है, यह निश्चय समझना चाहिये।

इस आदत को मिटाने के लिये हमें उस इच्छा को समझकर बच्चे की आवश्यकता को पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये।

बच्चों का बिस्तरे में पेशाब करना, पाखाना करना, गन्दे रहना आदि आदतों का भी सम्बन्ध उनकी अज्ञात इच्छाओं से होता है। कभी कभी ऐसा होता है कि बच्चा कुछ अवस्था तक बिस्तरे में पेशाब नहीं करता, पर बड़ा होने पर, ३-४ वर्ष के वय में, उसकी यह अच्छी आदत एकदम टूट जाती है और वह बिस्तरे में पेशाब करना शुरू कर देता है। माता इसके लिये उसकी बड़ी ताड़ना करती है। बच्चा अचानक इस तरह का काम करे तो यह समझना चाहिये कि उसके मन में उस समय बड़ा मानसिक द्वन्द्व है और चिन्ता है। प्रायः जब घर में नया बच्चा पैदा होता है या बच्चे के सामने कोई नई स्थिति उपस्थित हो जाती है, जिसके कारण उसके मन में चिन्ता होने लगे, तो वह बिस्तरे में पेशाब करना शुरू कर देता है। माता के प्रति क्रोध का और उसे दण्ड देने का उसका यही तरीका होता है। इसके बदले में माता उसकी ताड़ना करने लगे तो उसकी चिन्ता बढ़ जाती है और आदत भी मिटने के बजाय बढ़ जाती है।

इसी तरह पाखाना कराने में कुछ माताएँ बड़ी जबरदस्ती करती हैं। पाखाना करने में बच्चे अपनी अज्ञात इच्छाओं को तृप्त करते हैं। बहुत से बच्चे पाखाने को अपना सर्वस्व समझते हैं

और माता जब उनसे ठीक समय पर पाखाना करने में जबरदस्ती करती है तो वे मन में यह समझने लगते हैं कि उनका अमूल्य धन छिना जा रहा है और वे पाखाना करने में अरुचि प्रकट करते हैं। इससे अच्छी आदत के बजाय उनमें बुरी आदत पड़ जाती है। कभी कभी माताएँ बच्चे की गुदा में साबुन भी प्रविष्ट करती हैं। ऐसे प्रयोग बच्चों के लिये बड़े हानिकर होते हैं। जहाँ तक हो सके बच्चों को स्वतन्त्र व्यवहार का अधिकार देना चाहिये। माता-पिता हँसेंगे कि इसका अज्ञात इच्छा से क्या सम्बन्ध हो सकता है, पर जिन्होंने अज्ञात मन का अन्वेषण किया है वे जानते हैं कि इसका बच्चों के चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ सकता है और उनका भविष्य इस पर कहाँ तक निर्भर होता है।

यह तो हमने कुछ ऐसी आदतों का उल्लेख किया जिनको हम लोग बुरी समझते हैं और जो बच्चों में किन्हीं अज्ञात इच्छाओं को तृप्त करने के लिये अथवा किन्हीं मानसिक द्वन्द्वों या चिन्ताओं के कारण पड़ जाती हैं। इनको मिटाने के लिये तो उन इच्छाओं का विचार करना अथवा उन चिन्ताओं को या उन द्वन्द्वों को दूर करना होगा। पर केवल बुरी आदतों को मिटाने की ही समस्या माता-पिताओं के सामने नहीं होती। वे यह भी चाहते हैं कि कुछ अच्छी और उपयोगी आदतें बच्चों में

पढ़ सकें। माता-पिता जो आदतें बच्चों में बनाने का विचार करें वे उनमें तो अवश्य होनी चाहिये। प्रायः यह देखा जाता है कि माता-पिताओं में तो बहुत सी अच्छी आदतें होती नहीं, बल्कि उनके विपरीत होती हैं, और वे इस बात के लिये व्यग्र होते हैं कि वे अच्छी आदतें उनके बच्चों में हो जायँ। सिगरेट पीनेवाला पिता यदि अपने बच्चों से चाहे कि उनमें सिगरेट पीने की आदत न पड़े तो यह कब सम्भव है? बच्चा पिता के आदेश को न्यायसंगत नहीं समझता और जो कुछ आदेश यह करता है उसका उल्टा प्रभाव पड़ता है। इसलिये बच्चों में अच्छी आदतें डालने का सब से पहिला नियम तो यह होना चाहिये कि माता-पिता अपने आप में टटोल लें कि उनमें कैसी आदतें हैं, क्योंकि जो भी आदतें बच्चों में पड़ती हैं वे उनके वातावरण और उनकी इच्छाशक्ति के संघर्ष के फलस्वरूप होती हैं और उस वातावरण में माता-पिताओं का स्थान प्रमुख होता है।

माता-पिता के अपनी आदतें टटोल लेने पर बच्चे की इच्छाओं का पता लगाना चाहिये। प्रत्येक आदत के लिए इच्छा का आधार चाहिये। जब तक किसी इच्छा का पता नहीं लगता जो उस आदत द्वारा तृप्त हो सके तब तक आदत के स्थायी बनने की कोई भी आशा नहीं होती। शिक्षण का पहिला

नियम यह होना चाहिये कि कोई भी बात सीखने की बच्चे में रुचि उत्पन्न हो। उदाहरण के लिए खाने की आदत को लीजिये। माताएँ प्रायः यह शिकायत करती हैं कि उनका बच्चा बहुत कम खाता है या भोजन नहीं करता। वे बच्चे के लिए तरह तरह के भोजन बनाती हैं और जब बचा उनकी बनाई हुई वस्तुएं नहीं खाता तब वे बड़ी हताश होती हैं। धीरे-धीरे यह होने लगता है कि खिलाने के समय बच्चे में और माता में बराबर झगड़ा होता है और बच्चे को जो भी चीज दी जाती है वह अस्वीकार कर देता है। धीरे-धीरे इस कारण उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगता है और माता-पिता को इसकी बड़ी चिन्ता होती है। डाक्टर जाँच करने पर अक्सर किसी भी बीमारी का पता नहीं लगा सकता। ऐसी अवस्थाएँ होतीं इस कारण हैं कि जब शुरू ही शुरू में बच्चा अस्वीकार करता है तब उसे भूख नहीं होती है अथवा जुकाम या और किसी कारण से उसे खाने की इच्छा नहीं होती। माता उसकी इच्छा जानने की कोशिश नहीं करती और उसके मुँह में भोजन ठूसने लगती है। इसका बच्चा विरोध करता है। माता के बहुत कुछ फुसलाने के कारण बच्चा यह समझने लगता है कि माता के ध्यान को खींचने का और उसके प्रेम को पाने का यह भी एक तरीक़ा है। इस कारण बचा भोजन को मना करके माता के ध्यान को अपनी

ओर खींचता है और जितना ही माता इस मामले में परेशान होती है, बच्चे को खुशी होती है; क्योंकि उसकी इच्छा तृप्त होती है। माता की नासमझी के कारण इस तरह बच्चे में खाने के बारे में हठीलापन पैदा हो जाता है।

बच्चे को यदि भूख है तो वह स्वयं भोजन कर लेगा। इसके लिए व्यग्र होने की कोई आवश्यकता नहीं है। और यदि भूख नहीं है तो माता-पिता कितना भी यत्न करें वह भोजन ग्रहण नहीं करेगा। जबरदस्ती करने से कितनी ही बुरी आदतें उसमें पड़ जायेंगी।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि आदत इच्छा-शक्ति और वातावरण के संघर्ष का फल है। वातावरण ऐसा होना चाहिये जिससे अच्छी और उपयोगी आदतें बच्चे में बन सकें। ऐसी आदतें बनाने के लिए वातावरण में दो बातें होनी आवश्यक हैं— एक तो नियमित चलन और दूसरी इच्छा शक्ति के विकास की अनुकूलता।

बच्चा यदि जानता हो कि किस समय पर उसे कौन सा काम करना है तो वह धीरे-धीरे ठीक समय पर वैसा ही आचरण करने लगता है। हमारी बालशाला में, जिसमें ढाई से पाँच वर्ष के बच्चे आते हैं, नित्य नियमित समय पर खेल-कूद, भोजन और विश्राम होते हैं। बच्चों से इन कामों के लिए किसी

तरह की जबरदस्ती नहीं की जाती। शुरू-शुरू में जब बच्चा आता है तब थोड़े दिन तक तो उसे इस नियमित जीवन में अड़चन मालूम होती है। पर धीरे-धीरे जब वह सब बच्चों को नियमित रूप से काम करते हुए देखता है तो अपने आप भी करने लगता है। जिस तरह और जितनी जल्दी वे बच्चे आदतें बना लेते हैं, देखते आश्चर्य होता है। पर इसका मुख्य कारण यह है कि वे अपने चारों ओर नियमित जीवन देखते हैं और उसमें पड़ने से ही उन्हें सुख मिलता है। जिस घर में नियमित वातावरण न हो वहाँ लाख यत्न करने पर भी बच्चों में अच्छी आदतें नहीं बन सकतीं। जिस घर में माता-पिता नियमित जीवन का पालन नहीं करते हों, स्वयं झूठ बोलते हों, आपस में लड़ते झगड़ते हों, कभी एक बात और कभी दूसरी बात कहते हों, उस घर में कैसे आशा की जा सकती है कि बच्चों में नियमित और अच्छी आदतें बनेंगी?

अच्छी आदतों के लिए यह भी आवश्यक है कि बच्चों को उनकी इच्छाशक्ति के विकास के लिए अनुकूल अवसर मिले। बच्चों में बहुत सी चिन्ताएँ और मानसिक द्वन्द्व होते हैं जिनको यदि निकलने का अवसर न मिले तो फिर वे बुरी आदतों के आधार हो जाते हैं। हमारी बालशाला में एक लड़की ऐसी आई जो दूसरे लड़कों को चिढ़ाती, उनकी बनी बनाई चीजें तोड़ देती

और सदा किसी चीज़ के बिगाड़ने में लगी रहती। उस लड़की को हम लोगों ने कुछ काल तक ऐसा ही करने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अब वह दूसरों के खेल बहुत कम बिगाड़ती है। उसका बहुत कुछ मानसिक द्वन्द्व हल हो जाने से अब वह और बच्चों के सृजनात्मक खेलों में भाग लेती है। यदि हम पहिले ही उसे रोक देते तो उसका मानसिक द्वन्द्व और अधिक बढ़ जाता और उसमें और बुरी आदतें पड़ जातीं। बच्चे के मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि उसके मन में द्वन्द्व और तनाव अधिक न बढ़ें। बच्चों में जितनी भी बुरी लतें पड़ती हैं— जैसे हस्त-मैथुन, दाँतों से नाख़ूनों को चबाना, मुँह में या नाक में अँगुली डालना, बिस्तरों में पेशाब करना, इत्यादि— वे सब मानसिक द्वन्द्व या चिन्ताओं के कारण होती हैं और उनको एकदम रोकने से वे और बढ़ जाती हैं। कभी कभी कोई लत और ही विकृत रूप धारण कर लेती है। जैसे, जिन लोगों ने बच्चों के व्यवहार देखे हैं, वे कहते हैं कि अगर बच्चे की अँगूठा चूसने की आदत एकदम ज़बरदस्ती बंद कर दी जाय तो वह हस्त-मैथुन करने लगता है। इस कारण बच्चों की लतों को एकदम और ज़बरदस्ती से रोक नहीं देना चाहिये, बल्कि उन की चिन्ताओं और मानसिक द्वन्द्वों को भली प्रकार समझ कर

हल करने का यत्न करना चाहिये और उन की इच्छाशक्ति को विकसित होने का अवसर देना चाहिये।

अक्सर हम लोगों को कहते सुनते हैं, "मैं क्या करूँ, मैं तो अपनी आदत से लाचार हूँ।" मनुष्य प्रयत्न करने पर भी अपनी आदत से छुटकारा नहीं पाता। किसी को शराब पीने की या सिगरेट पीने की आदत पड़ जाय तो फिर वह अपने आप उस आदत को छोड़ने की बहुत कोशिश करने पर भी सफल नहीं होता। वह उस आदत का गुलाम बन जाता है। रोज उस आदत को छोड़ने के मनसूबे बाँधता है और रोज असफल रहता है। आदत के गुलाम के बजाय यह कहना ठीक होगा कि मनुष्य अपनी इच्छा का गुलाम हो जाता है। जिन बच्चों को सिगरेट पीने का बहुत शौक हो जाता है उनको आप प्रायः चिन्ताग्रस्त और मन में उलझे हुए पायेंगे। सिगरेट पीकर वे अपनी दबी हुई इच्छाओं को तृप्त करते हैं। बाहर अगर कोई बात ऐसी हो जाय जिससे उनकी चिन्ताएँ बढ़ जायँ या उनको किसी कारण से क्रोध आ रहा हो तो उनका सिगरेट पीना और अधिक बढ़ जाता है। बात यह होती है कि जब बाहर कोई चिन्ता या क्रोध का कारण होता है तो बहुत सारी मानसिक शक्ति इकट्ठी हो जाती है जो अपना विकास चाहती है, और विकास का अवसर न मिलने पर मनुष्य दूसरे मार्ग या साधन ढूँढ़ निकालता है।

सिगरेट पीना भी इसी प्रकार की एक दबी हुई इच्छा के विकास का साधन है।

प्रत्येक आदत को समझने के लिये और उसे वश में करने के लिये हमें उस आदत के पीछे लगी हुई अज्ञात इच्छा का पता लगाना होगा। बिना उस इच्छा का पता लगाये हम किसी आदत को अपने वश में नहीं कर सकते, हम उसके वश में बने ही रहेंगे।

अन्त में यह कह देना पर्याप्त होगा कि आदत, अच्छी हो चाहे बुरी, जीवन में बड़ी सहायक होती है। अच्छी आदत मनुष्य के जीवन को बनाती है और बुरी आदत उसके मानसिक द्वन्द्व और चिन्ता को हलका करती है। माता-पिता और शिक्षक समझदारी से इनका सदुपयोग कर सकते हैं।

युवा

कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक कहानी में युवावस्था में पहुँचते बालक का बड़ा अच्छा चित्रण किया है। वे लिखते हैं कि "इस व्यावहारिक संसार में चौदह वर्ष का बालक सब से अधिक घृणित होता है। वह न तो घर की शोभा ही बढ़ाता है और न किसी काम ही का होता है। छोटे बच्चे को जिस तरह प्यार कर सकते हैं उस तरह उसे नहीं कर सकते और वह बराबर बीच में पड़ा रहता है। अगर वह छोटे बच्चों की तरह तुतलाकर बोले तो उसे 'मुन्ना' कहते हैं और अगर वह बड़े

आदमियों की तरह जवाब दे तो उसे मुँहफट कहते हैं। वह कोई भी बात करे, लोगों को उससे चिढ़ लगती है। इस समय वह बढ़ती हुई और कुरूप अवस्था में होता है। वह एकदम बढ़ जाता है, उसके कपड़े छोटे हो जाते हैं, उसकी आवाज़ मोटी हो जाती है, फट जाती है और काँपने लगती है। उसका चेहरा एक दम तीखा और कुरूप हो जाता है। बच्चे के अपराध क्षमा कर देना सरल है। पर चौदह साल के बालक के अपराध, चाहे वे कितने ही अनिवार्य हों, सहन करना कठिन है। बालक दुखी होकर अपनी दशा को स्वयं जानने लगता है। बड़े आदमियों के साथ जब वह बात करता है तब वह या तो ज़रूरत से ज्यादा आगे बढ़ बढ़ कर बातें करता है या ऐसा झेंपता है मानो वह अपने ही से सकुच रहा हो।

"फिर भी यही अवस्था है जब वह अपने हृदय में प्रेम और यश की कामना करता है और जो भी उसके साथ सहानुभूति रखता है उसका भक्त और दास हो जाता है। परन्तु खुले रूप से उसे कोई भी प्यार नहीं करता, क्योंकि इसे लोग बिगाड़ना समझते हैं। इसलिये सबकी डाँट फटकार सुनते सुनते वह उस भटकते हुए कुत्ते के समान हो जाता है जो कि अपने स्वामी से बिछुड़ गया हो।

"चौदह वर्ष के बालक के लिये उसका घर ही उसके लिये स्वर्ग होता है। अजनबी मकान में अजनबी लोगों के साथ रहना

उसे दुखदाई मालूम होता है। मित्रों के कृपा-कटाक्ष से उसे स्वर्गीय सुख मिलता है और उसे सदैव यह चिन्ता रहती है कि वे उसका कहीं अपमान न कर दें।"

युवा का कैसा सच्चा चित्र कविवर ने खींचा है! इस लेख में मैं ऐसे बच्चों के मन और भावों के परिवर्तनों का उल्लेख करूँगा।

इस अवस्था में बच्चों के अङ्ग अङ्ग में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न होने लगती है, जिससे उनको सभी पदार्थ नये ही रूप में दिखाई देते हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में अब उन्हें एक नई ज्योति मालूम होने लगती है, चिड़ियों के चहचहाने में एक नया और मधुर सङ्गीत सुनाई देने लगता है, फूलों और पेड़ों में एक नई सुन्दरता दिखाई देने लगती है और हवा के झोकों से उनके अङ्ग रोमाञ्चित हो उठते हैं। घर में अब वे माता-पिता से स्वाधीन होने का प्रयत्न करते हैं और नये मित्र, नये साथी ढूँढते हैं। मित्रों के साथ रहने में उन्हें एक अनुपम आनन्द का अनुभव होने लगता है। ऐसे काव्य में जिसमें कि प्रेम, आशा, मिलन, निराशा और विरह के भाव होते हैं उनकी विशेष अभिरुचि होती है। इसी समय कामेच्छा की पुनर्जागृति होती है और उसे तृप्त करने के लिये युवा तरह तरह के साधन ढूँढता फिरता है।

मनुष्य के जीवन में कामेच्छा प्रधान होती है। उसका सारा जीवन इसी इच्छा की नींव पर बना होता है। इस इच्छा के अच्छे रास्ते पर लगने से ही मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है। यह अवस्था बालक के लिये बड़े महत्त्व की होती है। इस लिये माता-पिताओं को सूझ और सहानुभूति से काम लेना चाहिये।

सूझ और सहानुभूति हो कैसे? यह तब ही हो सकती है जब कि हम अपनी युवावस्था की बातें याद करें। बहुत सी बातें तो हम भूल जाते हैं, क्योंकि उनको भूलने ही में हमारा हित होता है। उनको न भूलें तो हमारी अन्तरात्मा हमको सताती रहती है। परन्तु प्रयत्न करें तो बहुत सी बातें हम याद कर सकते हैं। हमको तब पता लगेगा कि हमारी अवस्था और हमारे बालकों की अवस्था में कितनी समानता है। जिन बातों को हम अपराध और पाप समझकर बालकों को नीची निगाह से देखते हैं वे ही हमको मनुष्य-मात्र में साधारणतया दिखाई पड़ती हैं। जब हम युवा थे, तब हममें ऐसी ही कामनाएँ और ऐसी ही प्रवृत्तियाँ थीं। ये इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ जब मनुष्य-मात्र में स्वभाव से ही होती हैं तो फिर हम युवा ही को इनके लिए दोषी क्यों ठहरावें और उनको क्यों दण्ड दें?

माता-पिता कभी कभी अपने बच्चों के साथ कैसे असहन-शील हो जाते हैं, इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। एक १६ वर्ष के युवा बालक के कमरे में पिता ने तलाशी ली। वहाँ पिता को एक सिगरेट की डिब्बी, कुछ ऐसे पोस्टकार्ड-चित्र जिनमें स्त्री-पुरुषों के प्रेमभाव दिखाये गये थे, कुछ चम्मच, चाय का डिब्बा, इत्र की शीशियाँ तथा कुछ और चीजें मिलीं। पिता बड़े कर्तव्यशील थे। उनको इस बात की चिन्ता थी कि बच्चे जल्दी पढ़-लिखकर होशियार हो जायँ और समाज में उनका वैसा ही आदर और वैसी ही स्थिति हो जैसी कि उनकी है। उन्होंने अपने बालक के कमरे में ये सब चीजें पाईं तो उनको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने अपने युवा पुत्र को बड़ी डाँट-फटकार सुनाई। उनको सब से बड़ा आश्चर्य तो यह होता था कि ये सब चीजें यह कहाँ से लाता है। उनके लिए उसे कभी रुपया नहीं दिया जाता। क्या बालक चोरी करता है या रुपया कहीं से माँग लाता है? उन्होंने आवेश में आकर उसके इकट्ठे किये हुए पोस्टकार्ड-चित्र, जिनमें से कुछ तो उसे मित्रों से भेंट-स्वरूप मिले थे, और सिगरेट का डिब्बा छीन लिया। किस विचार से? पिता यह नहीं चाहते थे कि बालक दुर्व्यसनों में फँसे। इस समय तो उसका सारा ध्यान पढ़ाई में और परीक्षा पास करने में लगना चाहिये।

प्रत्येक पिता की यह इच्छा होती है कि, किसी तरह उनका बच्चा जल्दी पढ़-लिखकर समाज में अच्छी स्थिति और सम्मान पा ले और धन कमाने लग जाये। किसके हित के लिये? बच्चे के या पिता के? पिता इसमें अपना ही हित ढूँढता है। अपनी कमियों को वह अपने पुत्र के द्वारा पूरा करके अपने 'अहम्' या 'मैं' को सन्तुष्ट करना चाहता है। पर कैसी बुरी तरह से? बालक की सभी इच्छाओं का दमन करके। पिता का दृष्टिकोण कैसा अयुक्त है, कैसी स्वार्थपरता है!

क्या उस पिता ने कभी यह सोचने का प्रयत्न किया कि युवा बालक को सिगरेट का शौक क्यों होता है? सिगरेट पीनेवाले प्रायः ६ और १४ वर्ष के वय में शुरू करते हैं। शुरू में सिगरेट पीना किसी को अच्छा नहीं लगता। जी मचलता है और चक्कर आते हैं। पर तब भी लोग इसे पीना चाहते हैं। युवावस्था में बचपन की इच्छाएँ फिर जाग्रत होती हैं। उन्हीं रूपों में तो वे तृप्त नहीं हो पातीं, कुछ दूसरे ही उपाय और साधन ढूँढ निकालती हैं। सिगरेट भी एक ऐसा ही साधन है। सिगरेट द्वारा युवा अपने मुँह की कुछ अतृप्त इच्छाओं को पूरी करता है। माता-पिताओं को इस विषय में समझ से काम लेना चाहिये। बच्चों को धमका-कर ही वे उनका सिगरेट पीना नहीं छुड़ा सकते। उनकी अतृप्त इच्छायें उनके धमकाने से कहीं अधिक बलवती होती हैं। आश्चर्य

तो यह है कि कहीं कहीं पिता स्वयं सिगरेट पीते हैं और वे अपने बच्चों को उससे रोकना चाहते हैं। क्या यह कभी सम्भव है? अपने बच्चों में यदि वे सिगरेट पीने की आदत नहीं देखना चाहते तो सब से पहले वे स्वयं अपनी आदत छोड़ें और उसके बाद बच्चे की मनोवृत्ति समझकर उसे अच्छे मार्ग में लगायें।

यह बात कही जा चुकी है कि युवावस्था में कामेच्छा की पुनर्जागृति होती है। यह हम सभी जानते हैं। इसे छिपाने से कोई लाभ नहीं। बच्चे तो इस विषय में साथियों से तथा पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर ही लेते हैं। प्रायः उन्हें इस विषय में सच्चा ज्ञान नहीं मिलता। कितना अच्छा हो कि माता-पिता स्वयं ही बच्चों से इस विषय में बातचीत कर लें।

उस पिता ने युवा बालक के पोस्टकार्ड-चित्र छीन कर अन्याय किया। बालक ने पोस्टकार्ड-चित्र, जिनमें प्रेम के भाव दिखलाये गये थे, क्यों इकट्ठे किये थे? इस कारण कि उसकी इच्छाओं की तृप्ति के लिये उसके पास कोई साधन नहीं था। सभी ओर से उसकी इच्छाएं दब रही थीं। पोस्टकार्ड-चित्रों को देख देख कर ही वह अपनी इच्छाओं को तृप्त करता था। सिनेमा में प्रेम-चित्र देखकर हम खुश होते हैं और उसमें इतना रुपया खर्च करते हैं। कारण यह है कि वहाँ अपनी दबी हुई इच्छाओं को हम तृप्त करते हैं। चित्रों के पात्रों में से हम अपने आपको किसी के

समान समझ लेते हैं, मानो रंग-मंच पर हम ही हों, और हम अपने मन की बागडोर ढीली छोड़ देते हैं, जिससे भूखी इच्छाएँ तृप्त हो सकें। यही कारण है कि सिनेमा के चित्रों से हमें इतना सुख मिलता है।

सिनेमा देखना और युवा बालक का प्रेम-पोस्टकार्ड-चित्र इकट्ठा करना उसी सीमा तक हानिकर है जिस सीमा तक कि उदासीन होकर सुख का उपभोग करना। एक सुख तो यह है जो हमको क्रियात्मक कार्य के फल-स्वरूप मिलता है। दूसरा सुख यह है जिसमें हमको अपनी शक्ति नहीं लगानी पड़ती, बैठे बैठे ही सुख मिलता है। सिनेमा के चित्रों में दूसरी तरह का सुख मिलता है। ऐसे सुख में व्यक्तित्व का कोई विकास नहीं होता और जो सुख मिलता है वह क्षणिक होता है। सिनेमा में जब तक व्यक्ति चित्रों को देखता है तब तक तो उसे सुख मिलता है, पर ज्योंही वे आँखों की ओट हुए कि उसके सुख की घड़ियाँ भी समाप्त हो जाती हैं। पर इस प्रकार के सुख का उपभोग कोई ऐसा पाप नहीं है जिससे माता-पिता घबरा उठें। इस मामले में भी बच्चों से जबरदस्ती करने से लाभ के बजाय हानि ही होती है। जबरदस्ती न करके यदि ऐसा वातावरण बनाया जाय जिससे बच्चों में कार्य करने की प्रेरणा उठे तो उनकी शक्तियाँ सृजनात्मक कार्य में लग सकती हैं।

युवावस्था में बालक में प्रेम का स्रोत उमड़ता है। जिस किसी में उस का एक बार विश्वास हो जाय उसी को वह अपने प्रेम का पात्र बना लेता है और उसका वह भक्त बन जाता है। अपने प्रेमी जन के लिये वह मर मिटने को तैयार रहता है। इस प्रकार के प्रेम से जो लाभ है वह तो स्पष्ट है। यह ऊँचे दर्जे का प्रेम होता है और मनुष्य में जितने निःस्वार्थ भाव तथा सेवा-भाव होते हैं वे इसी प्रकार के प्रेम से निकलते हैं। इससे हानि भी हो सकती है, क्योंकि एक ही व्यक्ति के प्रेम में बालक सारे संसार से मुख मोड़ लेता है। वह अपने प्रेमी जन को छोड़ और किसी से अपना सम्बन्ध नहीं रखता। माता-पिताओं को इस कठनाई को बड़ी सावधानी और सहानुभूति से हल करना चाहिये। युवा बालक के सामने वे जान-बूझकर ऐसी ऐसी स्थितियाँ उपस्थित करें जिनसे उसका और लोगों से मिलना अनिवार्य हो जाय।

इस विषय में माता-पिताओं को एक और चेतावनी की आवश्यकता है। इस अवस्था में विशेषतः समान लिङ्ग के बच्चों में बड़ी गाढ़ी दोस्ती हो जाती है। माता-पिताओं को इसमें बड़ा सन्देह और खतरा मालूम होता है। पर इसमें डरने की कोई बात नहीं है। यह एक साधारण परिवर्तन की दशा है जिस में से शीघ्र ही बच्चा निकल जाता है। माता-पिता इस दशा में

यदि सन्देह और पाप की दृष्टि से देखेंगे तो इससे बड़ी हानि होने का भय है। दोस्ती का होना स्वाभाविक है पर उसके साथ यदि पाप का भाव मन में पैदा हो जाय तो युवा बालक का बड़ा अपकार हो जाता है। उसके मन में अपने प्रति घृणा हो जाती है जिससे वह बराबर झेंपता रहता है और लोगों के सामने अपना सर ऊँचा नहीं कर सकता। पाप के भार से वह दब जाता है।

माता-पिता यदि युवा बालक का हित चाहते हैं तो उसके मित्र बनें और उसके मार्ग में बाधक नहीं, उसके पथ-प्रदर्शक बनें।

काम-शिक्षा

मनुष्य के जीवन में काम-वृत्ति एक बड़ी प्रबल शक्ति है। इसके कारण मनुष्य-जाति क़ायम ही नहीं रहती, इसकी उत्तेजना से मनुष्य संसार में बड़े बड़े काम कर सकता है। इसके प्रवाह के बिल्कुल रुकने से मनुष्य कई मानसिक रोगों का शिकार बनता है और इसकी शक्ति का अच्छा उपयोग होने से संसार में साहित्य, कला, विज्ञान और समाज का निर्माण और उन्नति

होती है। हमारी सभ्यता बहुत कुछ हमारी पाशविक इच्छाओं के दबने से बनी हुई है और पाशविक इच्छाओं में काम सब से शक्तिशाली और उत्तेजक है। इच्छाओं के दबने से शक्ति का सञ्चय होता है और इसी शक्ति के सञ्चय से सभ्यता की जड़ पनपती है। इससे समाज अपनी सभ्यता को क़ायम रखने के लिए इस बात का बराबर प्रयत्न करता है कि मनुष्यों की पाशविक इच्छाएँ बराबर दबी रहें। कामेच्छा बड़ी प्रबल है, इससे बहुत कुछ दबने पर भी यह अपने असली रूप में अक्सर दिखाई देती है।

कुछ वर्षों पहिले लोगों का यह विश्वास था कि काम-वृत्ति की जागृति बालक के युवावस्था में पहुँचने पर होती है। पर मनोविश्लेषण के आविष्कारक डाक्टर फ्रायड ने यह बताया कि ऐसा समझना बिल्कुल भूल है। बच्चे में कामवृत्ति जन्म से ही होती है। वय के साथ यह नये-नये रूप धारण करती रहती है। प्रारम्भ में कामेच्छा या काम-वासना का पात्र बच्चा स्वयं ही होता है। उसके शरीर में ऐसे स्थान होते हैं जिनके द्वारा यह वासना प्रकट होती रहती है। इस प्रकार के मुख्यतः तीन स्थान हैं। सब से पहिले बच्चा अपनी वासना को मुँह के द्वारा पूरी करता है। वह माता का स्तन और अन्य वस्तुओं को मुँह में ले जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि उसका मुँह वासना पूर्ण करने का स्थान होता है।

दूसरा वासना-स्थान मल-द्वार है। मल को निकालने में और उसे रोकने में मल-द्वार पर बच्चा सुख का अनुभव करता है। धीरे-धीरे इन स्थानों को छोड़कर बच्चा अपनी जननेन्द्रिय द्वारा अपनी वासना को पूरी करने लगता है। इन तीनों में बच्चे का शरीर ही उसके प्रेम का पात्र होता है। उसकी सब काम-वासनाएँ बाहर की दुनिया की ओर नहीं, अपने शरीर की ही ओर बढ़ती हैं।

पर धीरे-धीरे बच्चा अपनी माता को प्रेम करने लगता है। उसकी काम-वासना का पात्र माता ही होती है। २-३ वर्ष की अवस्था के बाद माता को भी छोड़कर वह अपने ही लिङ्ग वाले बच्चों के साथ प्रेम करने लगता है। लड़के लड़कों के साथ और लड़कियाँ लड़कियों के साथ खेलती हैं और परस्पर प्रेम करती हैं। बालक जब युवावस्था में पहुँचता है तब उसके मन में अपने से विपरीत लिङ्ग वाले के प्रति अर्थात् पुरुष की स्त्री के प्रति और स्त्री की पुरुष के प्रति काम-वासना जाग्रत हो जाती है। काम-वासना की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। यह एक ही शक्ति है जो भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है।

समाज ने काम-वृत्ति को अब तक बुरी निगाह से देखा है। काम को दबाना मनुष्य का सच्चा धर्म और सब से ऊँचा लक्ष्य समझा गया है। समाज और धर्म के ऐसा करने पर भी मनुष्य

इस वृत्ति को अपने वश में अब तक कर नहीं सका है। जब जब वह इसका शिकार होता है, वह समझता है कि वह कोई बड़ा भारी पाप कर रहा है। काम-वासना की तृप्ति से उसकी जितनी शक्ति खर्च होती है उससे कहीं अधिक शक्ति उसकी इस चिन्ता में खर्च हो जाती है कि काम-वासना को तृप्त करके उसने पाप किया। कितने ही युवा हैं जो इसी पाप के भार से दबे हुए चिन्तित रहते हैं और इसी चिन्ता के कारण उनमें कई मानसिक विकार भी उत्पन्न हो गये हैं।

माता-पिता तथा और लोगों को, जिन पर बच्चों की शिक्षा का उत्तरदायित्व है, यह समझ लेना चाहिये कि इस शक्ति के प्रवाह को, बिना किसी और मार्ग से निकाले, रोक देने में उतना ही खतरा है जितना कि किसी वेग से बहते हुए पहाड़ी सोते को बाँध देने में। यदि उसके लिए कोई रास्ता न निकाला जाय तो वह सारे बाँध को तोड़ देता है। इसी तरह यदि काम-शक्ति को रोक दिया जाय और इसके लिए कोई मार्ग न निकाला जाय तो यह शीघ्र ही मनुष्य को जर्जर कर देती है। मनुष्य पागल हो जाता है और वह समाज के लिए बिलकुल निकम्मा हो जाता है। उसकी सारी शक्ति उसके पागलपन ही में खर्च हो जाती है। इसलिये यदि हमें समाज में लोगों को सुलझे हुए और सुखी बनाना है तो सब से पहिले हमें ऐसे मार्ग ढूँढने होंगे

जिनमें इस शक्ति का उपयोग हो सके। हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि इस शक्ति को इधर-उधर बाँटने पर भी यह बहुत कुछ बच जायेगी और अपना असली रास्ता ढूँढेगी। यह प्राकृतिक है, इसे पाप या दोष नहीं समझना चाहिये।

हम काम-वृत्ति को बुरी निगाह से देखते आये हैं, इसलिए इस सम्बन्ध की कोई भी बात करना हम बुरा समझते हैं। प्रत्येक साधारण बच्चे को यह जानने की इच्छा होती है कि वह कहाँ से और कैसे पैदा हुआ, माता और पिता का क्या सम्बन्ध है, उसकी जननेंद्रिय का क्या उपयोग है, इत्यादि। माता-पिता इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट नहीं देते हैं और इन्हें बुरी बातें कह-कर बच्चे को चुप कर देते हैं या झूठे उत्तर देकर उसको शान्त कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चा अपनी जिज्ञासा दोस्तों से, नौकरों से, गन्दी किताबों से या सिनेमा आदि से तृप्त करता है और प्रायः इनके द्वारा उसे ठीक ज्ञान नहीं मिलता। माता-पिताओं के ऐसे बर्ताव के कारण बच्चा यह समझने लगता है कि काम पाप-वासना है और उसमें यह वासना है इसलिये वह पापी है। वह चिन्तित रहने लगता है।

माता-पिताओं का यह ख़याल करना कि यदि वे बच्चों से इस विषय में बातचीत न करेंगे तो इस सम्बन्ध में उनको कभी ज्ञान होगा ही नहीं, बड़ी भूल है। मैंने इस विषय में कुछ खोज की तो

पता लगा कि बच्चे इस विषय में बहुत जानते हैं, पर जो ज्ञान उन को मिला है वह भ्रामक है, क्योंकि किसी जानकार व्यक्ति से उन्हें यह ज्ञान नहीं मिला। मैंने जितने बच्चों की जाँच की उन में से प्रायः सभी को मैथुन, स्वप्नदोष, बच्चे की उत्पत्ति, रज और वीर्य आदि के विषय में जानकारी थी, पर वह ठीक नहीं थी। बहुत से बच्चों का यह विश्वास था कि बच्चा मलद्वार द्वारा निकलता है और स्त्री का मासिक स्राव पुरुष की चोट के कारण होता है। बहुत से बच्चों का यह ख्याल था कि बच्चा पेट चीरकर निकाला जाता है और कुछ का यह ख्याल था कि बच्चा ईश्वर भेजता है।

जिन लोगों पर युवा बालकों को भरोसा होता है और जिन से वे अपनी उलझनें कहते हैं वे जानते हैं कि इस बारे में गलत जानकारी होने से बालक कितने दुःखी होते हैं। युवावस्था को पहुँचने पर लड़की को रज-स्राव होना और लड़के के स्वप्न में वीर्य निकलना स्वाभाविक है। पर ठीक जानकारी न होने से वे बड़े दुःखी होते हैं। वे यह समझते हैं कि ये उनकी शारीरिक दुर्बलता के कारण होते हैं और इनसे उनके स्वास्थ्य को और अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना है। इस चिन्ता के कारण धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य सचमुच बिगड़ जाता है और उनका यह विश्वास और भी पक्का हो जाता है कि इसका कारण वीर्य या रज का निकलना ही है।

इसी प्रकार हस्त-मैथुन के कारण भी बच्चे बड़े दुःखी और चिन्तित रहते हैं। प्रायः बच्चों को बचपन में तथा युवावस्था में हस्त-मैथुन की लत पड़ जाती है। समाज इस क्रिया को दूषित समझता है, इससे बच्चे के मन में पाप-भावना उत्पन्न हो जाती है। इससे वह मन ही मन में दुःखी हुआ करता है। डाक्टरों ने तथा मनोवैज्ञानिकों ने इस विषय में पूरी जाँच की है। उन का यह कहना है कि हस्त-मैथुन से इतनी हानि नहीं होती जितनी कि बताई जाती है और जो कुछ हानि होती है वह इस कारण कि बालक अपने ही शरीर से अपनी काम-वासना तृप्त करने लगता है, बाहर की दुनिया में उसकी दिलचस्पी नहीं रहती, अपना अधिक समय वह अपनी खयाली दुनिया में ही बिताने लगता है। धीरे धीरे वह स्वयं ही अपने प्रेम का पात्र हो जाता है और समाज से अलग हो जाता है। हस्त-मैथुन से उसके शारीरिक स्वास्थ्य को बहुत हानि नहीं होती है, बहुत हानि उसकी मानसिक चिन्ता के कारण ही होती है। हस्त-मैथुन से लगी पाप-भावना और चिन्ता से उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इन बातों में यदि बच्चों को समुचित ज्ञान दिया जाय तो उनकी बहुत कुछ चिन्ता कम हो सकती है और उनका जीवन अधिक सुखमय हो सकता है।

काम-शिक्षा कौन दे ?

जो कोई थोड़ा सा भी इस विषय में विचार करेगा वह यह

मान लेगा कि बच्चों को काम-शिक्षा देना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि उनको किसी न किसी तरह इस बारे में कुछ जानकारी मिल ही जाती है। फिर उत्तरदायी लोग इसको अपने हाथ में क्यों न लें? प्रायः सभी शिक्षा के आचार्य इस बात में सहमत हैं कि काम-शिक्षा देने का सबसे अच्छा और आदर्श स्थान घर है। घर ही में बच्चे सबसे पहले इस विषय में प्रश्न पूछते हैं और यदि माता इन प्रश्नों का निःसंकोच हो कर उत्तर दे तो इस से अच्छी बात और हो ही क्या सकती है। बच्चा तब समझेगा कि कामवृत्ति गंदी नहीं है और उसके बारे में जानने की उसे असाधारण इच्छा भी नहीं होगी।

कामवृत्ति के विषय में कुछ ज्ञान ऐसा है जो स्कूल में शिक्षक द्वारा भी दिया जा सकता है। पौधे, जानवर और मनुष्य के शरीर के भिन्न भिन्न अङ्गों के साथ जननेन्द्रियों के उपयोग, उनके रोग आदि के बारे में शिक्षक भी बच्चों से बातचीत कर सकता है। कुछ बातें ऐसी जरूर होंगी जिनको सारी कक्षा के सामने शिक्षक नहीं कह सकता, क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं होगा। जैसे, हस्त-मैथुन का स्वभाव बहुत कुछ बच्चे के मन से सम्बन्ध रखता है। शिक्षक यदि कक्षा में जाकर बच्चों से कह दे कि हस्त-मैथुन से इतनी हानि नहीं होती है जितनी कि चिन्ता से, तो यह उनकी चिन्ता को कम नहीं करेगा। इस प्रकार की शिक्षा उसी को देनी

चाहिये जो बच्चों का विश्वास-पात्र हो और जिसके कहने से उनके मन पर प्रभाव पड़ सके।

काम-शिक्षा माता-पिता दें चाहे शिक्षक, उनको यह मुख्य बात ध्यान में रखनी होगी कि उनके मन में कामवृत्ति के प्रति किसी प्रकार का दूषित भाव न हो। हमारे समाज, धर्म और संस्कारों के कारण हमारा मन दूषित हो गया है। उसको हमें सब से पहिले शुद्ध करना चाहिये और काम के प्रति पवित्र भाव उत्पन्न करना चाहिये। जब माता-पिता या शिक्षक काम के विषय में बातचीत करें तो उसी तरह करें जिस तरह वे भूगोल, गणित या इतिहास के विषय में करते हैं। उस समय उनके मन में कोई ग्लानि नहीं होनी चाहिये, उनका हृदय साफ़ और सुलझा होना चाहिये, उनके होठों पर किसी प्रकार की मुस्कराहट नहीं होनी चाहिये और उनकी आँखों में आवश्यकता से अधिक तेज भी नहीं होना चाहिये। यदि इसके विपरीत उनकी अवस्था होगी तो बच्चों को उसी क्षण मालूम हो जायगा कि शिक्षक कहते कुछ हैं और उनके मन में और ही कुछ बात है।

उपयुक्त भाषा

जो लोग काम-वृत्ति के विषय में बालकों से बातचीत करना चाहते हैं उनके सामने एक सब से बड़ी कठिनाई यह आती है कि उनके पास उपयुक्त शब्द नहीं होते हैं जिनके द्वारा वे अपने

विचारों को प्रकट करें। जिन शब्दों को हम उपयोग में लाते हैं उनको हम सब के सामने बोलने को तैयार नहीं हैं। क्योंकि जब कभी हम उन शब्दों का उपयोग करते हैं, हमारे मन में गन्दे भाव आ जाते हैं। इस प्रकार के शब्द बच्चे प्रायः पाखानों में और गन्दे स्थानों में लिखते हैं और आपस में जब एक दूसरे को गाली देते हैं तब भी उनका उपयोग करते हैं।

भाषा के विशेषज्ञ यह बात जानते हैं कि शब्दों का बच्चों के मन और भावों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस लिये काम-शिक्षा में इस बात की सब से बड़ी आवश्यकता है कि हम शुद्ध और उपयुक्त शब्दों का उपयोग करें। नीचे कुछ ऐसे शब्द दिये जाते हैं जिन्हें हम उपयोग में ला सकते हैं। ये शब्द चलते नहीं हैं पर धीरे-धीरे जब ये काम में लाये जायँगे तो ये भी चलते हो जायँगे। काम-शास्त्र के लिए तो हमें विशेष भाषा प्रयोग में लानी है।

शिश्न	छिन्न ग्रन्थि
अण्डकोष	रज, मासिक स्राव
वीर्य, शुक्र	गुदा, मलद्वार
योनि	मैथुन

पाठक यदि इनसे सरल शब्द जानते हों और वे अश्लील न हों तो उनका प्रयोग कर सकते हैं। ये शब्द हरएक बच्चे को

जानने चाहियें पर इसका मतलब यह नहीं है कि इन शब्दों की व्याख्या अलग-अलग की जाय। इन शब्दों को बच्चा उसी तरह सीखे जिस तरह वह अपने नाक, कान, मुँह आदि के नाम सीखता है।

काम-शिक्षा किस वय में प्रारम्भ हो ?

बच्चा जब प्रश्न करे तभी उसको उत्तर मिलना चाहिये। बच्चों की उत्पत्ति के साधन तथा लड़के और लड़की में भेद आदि के बारे में जानने की इच्छा बच्चे के जन्म के बाद बहुत शीघ्र ही हो जाती है। तीन वर्ष के बच्चों को जब भाषा का ज्ञान हो जाता है तब वे इस विषय में स्पष्ट प्रश्न पूछने लगते हैं। यदि प्रारम्भ ही से बच्चों को माता-पिता इस विषय में शिक्षा दें तो एक लाभ तो यह होगा कि इस शिक्षा को बच्चे माता-पिता के प्रेम के साथ जोड़ेंगे और उनके मन में काम के प्रति सदैव शुद्ध भाव जाग्रत होंगे। दूसरा लाभ यह होगा कि बच्चे झूठे और बुरे ज्ञान से बचेंगे। इसलिए जब बच्चों की इन विषयों में जानने की इच्छा हो तो उसी समय उनको निःसंकोच और सरल भाव से ज्ञान करा देना चाहिये। पर माता-पिता यदि तैयार न हों या इसके योग्य न हों तो शिक्षक को यह दायित्व उठाना चाहिये। शिक्षक का कार्य माता-पिताओं से विशेष कठिनाई का होता है, क्योंकि जब बच्चे शिक्षक के पास पहुँचते हैं उस समय

तक उनका मन बहुत दूषित हो चुका है और यह ज्ञान उनको उतनी आसानी से नहीं दिया जा सकता जितना कि माता-पिताओं द्वारा दिया जा सकता है।

शिक्षक को यह बात अवश्य ध्यान में रखनी होगी कि कौन सी बात बच्चों से किस समय कही जाय। सभी बातें सभी बच्चों से एकदम नहीं कही जा सकतीं। काम-शिक्षा देते समय प्रत्येक बच्चे का पूर्व अनुभव, उसका वय, उसकी भाव-वृद्धि और उसका व्यक्तित्व ध्यान में रखना पड़ेगा। चार वर्ष के बच्चे को बच्चों के जन्म के सम्बन्ध में व्याख्या करने से लाभ होगा, पर उसको जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों के बारे में कहने से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि उसे उस ज्ञान की उस समय आवश्यकता नहीं होती। इसी तरह १४-१६ वर्ष के वय में युवावस्था में पहुँचे हुये बालक को जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों के बारे में बताना आवश्यक है, पर बच्चे की उत्पत्ति के बारे में व्याख्या करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह इस वय तक काफी ज्ञान लेता है।

काम-शिक्षा साधारण ज्ञान की तरह और संसार के अन्य अनुभवों की तरह बच्चे को धीरे धीरे और बराबर मिलनी चाहिये। जैसे जैसे बच्चे की काम में वृद्धि हो वैसे वैसे ही उस का ज्ञान भी पूर्ण होना चाहिये।

हम किसी भी दृष्टि से देखें, बच्चे के स्वास्थ्य या उसके मानसिक विकास की दृष्टि से अथवा नैतिक या सामाजिक दृष्टि से, हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि बच्चों को काम-शिक्षा देना आवश्यक है। अब तक काम के विषय को गुप्त रखने का परिणाम यह है कि बच्चे अपनी काम-जिज्ञासा और वासना को उल्टे मार्ग से तृप्त करते हैं। इससे जीवन में वे दुःखी रहते हैं और अनेक शारीरिक तथा मानसिक रोगों से घिरे रहते हैं। काम मनुष्य के नस-नस में व्यापा हुआ है। जब तक मनुष्य जीवित है तब तक कामवृत्ति जड़ से उखाड़ी नहीं जा सकती। समाज के हित के लिये यह केवल इधर-उधर मोड़ी जा सकती है। यह हम तभी कर सकते हैं जब कि इसके प्रति हमारे भाव और विचार शुद्ध और सरल हों और हम इसे पाप न मानकर एक प्राकृतिक वृत्ति या इच्छा समझें और इसके सम्बन्ध में बच्चों से निःसंकोच होकर बातचीत करें। ऐसा यदि हम कर सकें तो अपने समाज को हम मानसिक रोगों और दुःखों से मुक्त कर देंगे।

बच्चा और धन

मनुष्य ने जब से धन का उपयोग करना सीखा है तब से उस का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य धन को शक्ति मानता है और जिसके पास सबसे अधिक धन होता है उसी को सबसे अधिक शक्तिशाली गिनता है। धन-संग्रह के कारण ही मनुष्य-मनुष्य में और राष्ट्र-राष्ट्र में युद्ध हो रहा है। साधारण मनुष्य की यही इच्छा होती है कि वह जितना धन चाहे बटोर ले। यदि हर एक मनुष्य ऐसा सोचे तो लड़ाई-झगड़ा दूर किया नहीं जा सकता।

जो निर्धन है वह धनवान् से झगड़ा करेगा और उससे धन छीनने की कोशिश करेगा। धनवान् की यह इच्छा रहती है कि जितना धन वह बटोर सके बटोरे और निर्धन के रक्त-मांस को और भी सुखाने की कोशिश करे, जिससे वह उसके सामने अपना हाथ न उठा सके। हमारे युग में निर्धन और धनवान् के झगड़े ने बड़ा भारी ज़ोर पकड़ा है और मानव-जाति का सुख बहुत कुछ इसी झगड़े के फैसले पर निर्भर है। इसका फैसला दो तरह से किया जा सकता है। एक तो यह कि राज्य की सत्ता न्याय से धन का बराबर बटवारा कर दे, जिससे प्रत्येक मनुष्य अपना पेट भर सके और आराम से जीवन-निर्वाह कर सके। पर यह तो हो नहीं रहा है। जिन लोगों के हाथों में राज्य की सत्ता है वे पूँजीवाले हैं। वे अपनी धनशक्ति को अपने हाथों से आसानी से जाने न देंगे। पर एक दूसरा उपाय और है। उसका रास्ता लम्बा है, परन्तु सीधा और हमारे बस का है। संसार के सब बच्चे हमारे हाथों में हैं। यदि अपने घरों और स्कूलों में हम उनके मन में धन के प्रति समुचित भाव पैदा कर दें तो भविष्य में इसका झगड़ा अपने आप मिट जायगा। इस झगड़े के अंकुर हमारे घरों और स्कूलों में लगते हैं और वहीं इसका फैसला भी हो सकता है। जो कुछ दूसरा फैसला होगा वह ऊपरी और दबाव से होगा और दबाव के फैसले में बराबर झगड़ा बना रहेगा।

धन-संग्रह करनेवालों की मनोवृत्ति को हम समझने की कोशिश करें तो हम देखेंगे कि सभी प्रायः इसी लिये धन इकट्ठा करते हैं कि उन को अपनी रक्षा का भय होता है और उन में आत्म-विश्वास नहीं होता है। उनको भविष्य की सदा आशंका रहती है। ऐसे लोग अपने भविष्य के लिये जरूरत से ज्यादा धन इकट्ठा करके जमीन में गाड़ देते हैं, सोने-चाँदी के गहने बनाकर रख लेते हैं, अथवा बैंकों में अपने नाम से और अपने कुटुम्ब के नाम से खूब रुपया इकट्ठा कर रखते हैं। ऐसे लोग रुपये होते हुए भी अपना जीवन बड़े कष्ट से बिताते हैं और बड़ी कंजूसी से रहते हैं। अपने बच्चों के नाम से हजारों रुपये भविष्य के लिये इकट्ठा कर रखते हैं पर उनके खाने-कपड़ों के लिये, उनकी पढ़ाई के लिये, पैसा खर्च करते इनको बहुत कष्ट होता है। ऐसे लोगों को धन का इतना मोह होता है कि अपना जीवन भी संकट में पड़ने पर ये रुपया खर्च करना नहीं चाहते। इनके पास रुपये जमा रहते हैं, फिर भी ये अपने खर्च के लिए दूसरों से उधार ले-लेकर काम चलाते हैं। ऐसे लोगों को धन-संग्रह का ऐसा रोग लग जाता है कि ये दिन-रात उसी में परेशान रहते हैं।

मनोविश्लेषण में ऐसे लोग एक विशेष प्रकार के माने जाते हैं, इनका एक विशेष प्रकार का चरित्र होता है। धन के प्रति

इतना मोह होने का कारण ढूँढने से पता चला है कि उसका सम्बन्ध बचपन में बच्चे की १ और २ वर्ष की उस अवस्था से है जब उसको अपनी गुदा से विशेष सुख मिलता है। उस अवस्था में बच्चा अपने पाखाने में खास तौर से दिलचस्पी लेता है। वह कभी-कभी मल को बहुत देर तक रोके रहता है और फिर जोर से बाहर निकालता है। कभी-कभी वह मल को अपना बहुमूल्य धन समझता है, क्योंकि वह उस दूध से बना होता है जो उसकी 'अच्छी' माता के स्तनों से निकलता है। उसको जब वह निकालता है तब कभी-कभी यह समझता है कि अपने अच्छे माता-पिता के लिए एक बहुमूल्य भेंट दे रहा है और कभी, जब उसके मन में माता-पिता के प्रति रोष और घृणा होती है, वह उसी मल से शस्त्र का काम लेता है और समझता है कि वह उसके द्वारा माता-पिता पर प्रहार कर रहा है। इसी समय बच्चा अपने मल को रोकना भी सीखता है। कुछ तो इस कारण भी कि जब बाद में जोर से वह निकलता है तब उसे गुदा में सुख मिलता है और कुछ वह माता-पिता को चिढ़ाने की तथा हठ के कारण करता है। बाद में जब बच्चा बड़ा होता है तब धन को वह अपने अज्ञात मन में मल का प्रतीक समझता है और उसके इकट्ठा करने में वह अपनी उन्हीं अज्ञात इच्छाओं को तृप्त करता है जिनकी जागृति बचपन में हुई होती है और जो

धन की तृप्ति के लिए लालायित रहती हैं। हिन्दू धर्म में तथा अन्य धर्मों में धन को दूषित वस्तु बताया गया है जिससे कि मनुष्य को सदा बचे रहना चाहिये। यह विचार मनुष्य के उसी अज्ञात मन के प्रतीक का द्योतक है।

इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे होते हैं जो रुपये को पानी की तरह बहाते हैं। ये जितना कमाते हैं उससे कहीं अधिक खर्च करते हैं। रुपये का इनके सामने कोई मूल्य नहीं। रुपया इनके पास ज्यों ही आता है त्यों ही निकल जाता है। रुपये को ये कोई भयानक वस्तु मानते हैं जिससे जितनी जल्दी छुटकारा पा लिया जाय उतना ही अच्छा। इनका मुख्य भाव खर्च करने का होता है। ये लोग कमाते ही इस लिए हैं कि रुपये खर्च कर सकें। अगर इनके पास खर्च करने को न हो तो कर्ज लेते हैं। इनके मन को शान्ति तभी मिल सकती है जब ये रुपये खर्च कर सकें। यह जरूरी नहीं है कि ये अपने रुपये उपयोगी वस्तुओं के लिये तथा अपने आराम के लिये ही खर्च करें।

कंजूस और खर्चीले लोगों की मनोवृत्ति भिन्न होती है, यद्यपि उनके अज्ञात मन में धन के लिये प्रतीक एक होता है और उस का कारण उनके बचपन में होता है। जिस प्रकार कंजूस धन को अपने अज्ञात मन में एक बहुमूल्य पदार्थ समझता है जिसको वह

अपने से अलग नहीं करना चाहता, उसी प्रकार खर्चीला मनुष्य उसको एक भयानक पदार्थ समझता है जिसको अलग करने से और दूसरों को दे देने से ही (क्योंकि इससे उसकी हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ संतुष्ट होती हैं) उसका बोझ हल्का होता है। कंजूस अपने बचपन में अपने मल को एक बहुमूल्य पदार्थ समझता है। उसके माता-पिता जितना ही उसको उसे बाहर निकालने को कहते हैं उतना ही वह उसे अन्दर रखना चाहता है। आगे जा कर धन का भी वह इसी तरह सञ्चय करता है। खर्चीला अपने बचपन में बड़ी अधिकता से और बड़े वेग से अपना मल निकालता है और वह समझता है कि इसके द्वारा वह अपने माता-पिता पर प्रहार कर रहा है। मल उसके लिये एक घृणात्मक वस्तु हो जाता है। खर्चीलों में दो विशेष प्रकार के लोग होते हैं। एक तो धन इकट्ठा करके व्यर्थ के कामों में खर्च कर देते हैं और दूसरे— यद्यपि इस प्रकार के लोग बहुत कम होते हैं— उसको अच्छे कामों में, मन्दिरों में, स्कूलों में, अनाथालयों आदि में दे देते हैं। इनकी मनोवृत्ति ऊपर बताये हुए खर्चीले लोगों से भिन्न होती है। ये बचपन में अपने मल को एक बहुमूल्य पदार्थ समझते हैं। उसका संचय करना ये अपना धर्म समझते हैं, पर उसको अपने माता-पिताओं को अपने प्रेम की भेंट-स्वरूप दे देना भी अपना कर्तव्य समझते हैं। अच्छे

अब भी तृप्ति के लिए लालायित रहती हैं। हिन्दू धर्म में तथा अन्य धर्मों में धन को दूषित वस्तु बताया गया है जिससे कि मनुष्य को सदा बचे रहना चाहिये। यह विचार मनुष्य के उसी अज्ञात मन के प्रतीक का द्योतक है।

इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे होते हैं जो रुपये को पानी की तरह बहाते हैं। ये जितना कमाते हैं उससे कहीं अधिक खर्च करते हैं। रुपये का इनके सामने कोई मूल्य नहीं। रुपया इनके पास ज्यों ही आता है त्यों ही निकल जाता है। रुपये को ये कोई भयानक वस्तु समझते हैं जिससे जितनी जल्दी छुटकारा पा लिया जाय उतना ही अच्छा। इनका मुख्य भाव खर्च करने का होता है। ये लोग कमाते ही इस लिए हैं कि रुपये खर्च कर सकें। अगर इनके पास खर्च करने को न हो तो कर्ज लेते हैं। इनके मन को शान्ति तभी मिल सकती है जब ये रुपये खर्च कर सकें। यह जरूरी नहीं है कि ये अपने रुपये उपयोगी वस्तुओं के लिये तथा अपने आराम के लिये ही खर्च करें।

कंजूस और खर्चीले लोगों की मनोवृत्ति भिन्न होती है, यद्यपि इनके अज्ञात मन में धन के लिये प्रतीक एक होता है, और उस का सम्बन्ध इनके बचपन से होता है। जिस प्रकार कंजूस धन को अपने अज्ञात मन में एक बहुमूल्य पदार्थ समझता है जिसको वह

अपने से अलग नहीं करना चाहता, उसी प्रकार खर्चीला मनुष्य उसको एक भयानक पदार्थ समझता है जिसको अलग करने से और दूसरों को दे देने से ही (क्योंकि इससे उसकी हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ संतुष्ट होती हैं) उसका बोझ हलका होता है। कंजूस अपने बचपन में अपने मल को एक बहुमूल्य पदार्थ समझता है। उसके माता-पिता जितना ही उसको उसे बाहर निकालने को कहते हैं उतना ही वह उसे अन्दर रखना चाहता है। आगे जा कर धन का भी वह इसी तरह सञ्चय करता है। खर्चीला अपने बचपन में बड़ी अधिकता से और बड़े वेग से अपना मल निकालता है और यह समझता है कि इसके द्वारा वह अपने माता-पिता पर प्रहार कर रहा है। मल उसके लिये एक घृणात्मक वस्तु हो जाता है। खर्चीलों में दो विशेष प्रकार के लोग होते हैं। एक तो धन इकट्ठा करके व्यर्थ के कामों में खर्च कर देते हैं और दूसरे— यद्यपि इस प्रकार के लोग बहुत कम होते हैं— उसको अच्छे कामों में, मन्दिरों में, स्कूलों में, अनाथालयों आदि में दे देते हैं। इनकी मनोवृत्ति ऊपर बताये हुए खर्चीले लोगों से भिन्न होती है। ये बचपन में अपने मल को एक बहुमूल्य पदार्थ समझते हैं। उसका संचय करना ये अपना धर्म समझते हैं, पर उसको अपने माता-पिताओं को अपने प्रेम की भेंट-स्वरूप दे देना भी अपना कर्तव्य समझते हैं। अच्छे

काम में धन को लगाकर ये अपनी इसी अज्ञात कामना को तृप्त करते हैं।

पाठकों को यह बात पढ़कर आश्चर्य होगा कि मल से बच्चे के अज्ञात मन का इतना सम्बन्ध होता है और अज्ञात मन का उसके भविष्य जीवन पर इतना प्रभाव पड़ता है। पर जो लोग मनुष्यों के अज्ञात मन में मनोविश्लेषण द्वारा गहरे पैठे हैं, वे जानते हैं कि यह कितना सत्य है। मनुष्य के जीवन में बचपन की अतृप्त कामनाएँ और उस अवस्था की भावनाएँ और कल्पनाएँ उसके अज्ञात मन में मँडराती रहती हैं और निकास का मौक़ा ढूँढती रहती हैं।

सभी माता-पिताओं के लिये यह आसान नहीं है कि बच्चों के अज्ञात मन तक पहुँच सकें। पर इस विषय में माता-पिता इतना जरूर कर सकते हैं कि बच्चों के मल त्यागने के ऊपर बहुत चिंता या क्रोध न दिखायें। इस क्रिया को उदासीन भाव से देखें और ऐसा समझें कि यह स्वाभाविक क्रिया होती ही रहती है। बच्चे में यदि पाखाना जाने की आदत बराबर न हो या वह गंदा रहता हो तो माता-पिता उस पर बहुत क्रोध करके उसको डाँटें नहीं, धीरे धीरे अपने व्यवहार से उसे साफ़ रहना सिखायें। बच्चा अपनी मलमूत्र की क्रियाओं को यदि स्वाभाविक समझने लग जाय तो भविष्य में धन और रुपयों के सम्बन्ध में भी उसकी

मनोवृत्ति स्वाभाविक हो जायगी, न तो वह उनको बटोरेगा ही और न वह फिजूल खर्च करने का ही आदी रहेगा। धन को वह उतना ही स्थान देगा जितना कि उसके सुखमय जीवन के लिये आवश्यक होगा।

यह तो एक साधारण बात है कि बच्चों का चरित्र बहुत कुछ माता-पिताओं के व्यवहार पर निर्भर होता है। यदि माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे बड़े होकर धन का अच्छा उपयोग करना सीखें तो उन्हें आरम्भ से ही रुपयों पैसों को काम में लाना सिखायें। हमारे कुटुम्ब में बच्चे का कोई स्थान नहीं होता। उस के कपड़ों के बारे में, खाने-पीने के बारे में, खिलौनों के बारे में उससे कोई राय नहीं लेता। माता-पिता ही सब कुछ करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बचा सदा के लिये अधीन बना रहता है। किसी किसी कुटुम्ब में तो यहाँ तक होता है कि कुछ युवकों को, उनके अपने बच्चे हो जाने पर भी, माता-पिताओं के जीवित रहते कोई भी खर्चा करने का मौक़ा नहीं मिलता। जो कुछ वे कमाते हैं वह माता-पिताओं को सौंप देते हैं और वे ही सब खर्च करते हैं और घर का प्रबन्ध करते हैं। ऐसा जिस घर में होता है वहाँ क्या आशा की जा सकती है कि बच्चे धन का सदुपयोग करना सीखेंगे? प्रायः माता-पिताओं का यह विश्वास होता है कि बच्चों को रुपये देने से वे बिगड़ जाते

हैं। इसलिये वे बच्चों के पास एक पैसा भी नहीं पहुँचने देते। बच्चों को इस तरह अधीन रखने में माता-पिताओं का स्वार्थ होता है। धन होने के कारण वे शक्तिशाली होते हैं, बच्चों के पास धन चले जाने से वे डरते हैं कि उनकी शक्ति कम हो जायगी। इसलिये बराबर इस शक्ति को जाने से बचाये रखते हैं। और बच्चे जब स्वाधीन होते हैं तब अपना मन-चाहा करते हैं, मन-चाहे लोगों से मिलते हैं और प्रेम करते हैं। माता-पिता अपने अज्ञात मन में यही चाहते हैं कि बच्चों के प्रेम-पात्र वे ही बने रहें। बचपन में वे स्वयं अधीन रहे और प्रेम से वञ्चित रहे, इसलिये उनको अपने बच्चों से डाह होती है और वे चाहते हैं कि उनके बच्चे उनके अधीन बने रहें जिससे कि उन्हें उनका प्रेम मिलता रहे। इस तरह वे अपनी अतृप्त कामनाओं को तृप्त करते हैं। अपने बच्चों को वे अपने सुख की सामग्री समझते हैं। कहने के लिए तो माता-पिता कहते हैं कि वे बच्चों का हित करते हैं, पर वे ध्यान से देखें तो उनको पता लगेगा कि वे बच्चों को अधीन रखकर उनका हित नहीं, अपना ही हित करते हैं।

जब बच्चे कुछ समझदार हो जायं तब उनको थोड़ा थोड़ा पैसा देना चाहिये। यह जरूर है कि माता-पिता अपनी हैसियत के मुताबिक ही उनको पैसा दे सकेंगे, पर थोड़ा थोड़ा देने से

यह लाभ होता है कि बच्चा अपना प्रबन्ध करना सीखता है और वह अनुभव करने लगता है कि कुटुम्ब में वह भी एक व्यक्ति है और उसका भी सम्मान होता है। बच्चे के पैसे का अच्छा उपयोग करना सिखाने का उपाय यह है कि उसकी जरूरी चीजों के खरीदने का उसे अधिकार हो। बच्चे के उसके खर्च के लिए पैसा-रुपया देने के बाद माता-पिता के हर बार उसके काम में दखल नहीं देना चाहिये। उसको पहिले से यह बता देना चाहिये कि उसे जो पैसा-रुपया मिल रहा है वह किन किन चीजों के लिए मिल रहा है। उसके बाद उसका जो जी चाहे उस धन का करे। उसका जी चाहे तो रोज उसकी मिठाई ला लाकर खाये, उसके खिलौने खरीद कर लाये या उसका जी चाहे तो उस धन के बैंक में जमा कराये। यदि बच्चे के ऐसा करने की आजादी नहीं होगी तो वह पैसे-रुपये का समुचित उपयोग करना नहीं सीखेगा। जब वह अपने सब पैसे-रुपये मिठाई में खर्च कर देगा तब उसको मालूम होगा कि उसको कुछ खिलौने के लिए भी बचाने चाहियें और कुछ बैंक में भी जमा करने चाहियें जो उसको जरूरत पड़ने पर काम आयें। रुपये का मूल्य बच्चा रुपया खर्च करके ही सीखता है। उसके खर्च करने का उसे मौका ही न दिया जाय तो वह उसके मूल्य के कभी नहीं पहिचान सकता। हमारे घरों में अक्सर यह देखा जाता है कि

पिता पुत्र के लिए खूब धन इकट्ठा करता है और पुत्र उस सम्पत्ति को फूँक डालता है। इसका कारण यह होता है कि जब तक पिता जीवित रहता है तब तक पुत्र उसके अधीन रहता है और उसे धन खर्च करने का कोई अवसर नहीं दिया जाता। जब उसे बहुत सा धन इकट्ठा मिलता है तो वह चकाचौंध हो जाता है और नहीं समझता कि उस धन का क्या करे।

बच्चों को रुपये देते समय माता-पिताओं को यह ध्यान रखना चाहिये कि वे बच्चों को ऐसा न अनुभव करने दें कि वे उनसे खरीदे जा रहे हैं। कितने ही नवयुवक इस भार से दबे जाते हैं कि उनके माता-पिताओं ने उनको रुपये दिये हैं, इस लिए उन्हें उनका सभी कहना मानना ही चाहिये। इससे बच्चों की स्वतन्त्रता बिलकुल रुक जाती है और उनके ऊपर माता-पिताओं का सदा एक बोझ सा लदा रहता है। माता-पिता दुनिया में बच्चों को लाते हैं, उनका यह दायित्व है कि वे अपने बच्चों का पालन-पोषण करें।

कभी कभी माता-पिता बच्चों को रुपये इनाम के रूप में देते हैं। इनाम और रिश्वत में बहुत ज्यादा फ़र्क नहीं है। बच्चे जब माता-पिताओं का कहना नहीं मानते तब उनको इनाम का लालच देकर वे उनसे आज्ञा-पालन करा लेते हैं। बच्चों को रुपयों की ज़रूरत होती है इसलिये वे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी माता-

पिताओं के कहने से काम कर देते हैं। उस काम से उन्हें कोई मतलब नहीं, उन्हें तो बस रुपयों से मतलब होता है। इस प्रकार बच्चे धोखा देना सीखते हैं। वे माता-पिताओं को खुश करने के लिये एक तरह का काम करते हैं और उनकी पीठ पीछे दूसरी तरह का। इनाम के रूप में रुपया या अन्य कोई भी वस्तु देने से बच्चों का उतना ही अहित होता है जितना कि दंड देने से। दोनों में माता-पिता अपनी अधिक शक्ति को काम में लाते हैं। एक में वे धन-शक्ति का उपयोग करते हैं और दूसरे में शरीर-शक्ति का, एक में प्रलोभन द्वारा और दूसरे में भय द्वारा बच्चों को अपने दास बनाते हैं। इनका प्रभाव बच्चों के स्वभाव पर बहुत बुरा पड़ता है। भविष्य में वे प्रलोभन या दण्ड के बिना कोई काम कर ही नहीं सकते। कर्तव्य-बुद्धि से या अपनी उपज से वे कोई भी काम उठा नहीं सकते। वे हर बात के लिये दूसरों का मुँह ताकते रहते हैं। अतः यदि बच्चों को स्वतन्त्र और अपने काम के लिये उत्तरदायित्व-पूर्ण बनाना है तो माता-पिताओं को उन्हें धन का प्रलोभन नहीं देना चाहिये। बच्चे का प्रेम तो धन से खरीदा नहीं जा सकता। जो ऐसा करने का प्रयत्न करता है वह अपने आपको अन्त में उसकी घृणा का ही पात्र बनाता है और बच्चे को धोखा देना सिखाता है।

बच्चा जब युवावस्था में पहुँचता है तब वह हर एक प्रकार से माता-पिता के दबाव से छूटना चाहता है। रुपये-पैसे के मामले में भी वह उनके अधीन नहीं रहना चाहता। वह अपने आप थोड़े रुपये कमाना चाहता है। जब बच्चे में इस तरह की भावना पैदा हो तब उसको कुछ कमाने का अवसर देना चाहिये। जहाँ माता-पिताओं को आर्थिक संकट हो वहाँ तो और इस की आवश्यकता हो जाती है, पर जिन घरों में माता-पिता धनी हों वहाँ भी बच्चों की यदि इच्छा हो तो उनकी आवश्यकता के अनुसार उन्हें कमाने की आज्ञा देने से कोई हानि नहीं होती। थोड़ा बहुत पैसा कमाने का मौक़ा तो मिलता ही रहता है। बहुत से माता-पिताओं को इस बात की शर्म आती है कि उनके रहते हुए उनके बच्चों को कमाने की ज़रूरत पड़ती है। इसमें वे अपनी मानहानि समझते हैं। पर यह एक बहुत ग़लत दृष्टि-कोण है। बच्चे के स्वाधीन होने में माता-पिता को अपनी मानहानि नहीं समझनी चाहिये। स्वाधीन बना उनका, उनके कुटुम्ब का और समाज का अधिक हित करेगा। माता-पिता को यह ज़रूर ख़याल रखना चाहिये कि बचपन में बच्चे पर उसके भरण पोषण का भार न पड़ जाय। बचपन ही में उस पर यदि बहुत अधिक आर्थिक भार पड़ जाय तो उसकी शिक्षा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और वह जीवन के लिये अच्छी तैयारी नहीं कर

सकेगा। इसलिये बिना आर्थिक भार डाले बच्चे को अपने आप पैसा कमाने का अवसर देना चाहिये। ऐसा न किये जाने से और मात-पिता से अपनी आवश्यकता पूरी न होने से बच्चा पैसा माँगना सीखता है, दूसरे लड़कों से क़र्ज़ा लेता है और कभी कभी चोरी भी कर बैठता है।

बच्चों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये कभी कभी माता-पिता उनको घर में ही ऐसे काम बता सकते हैं जो उन्हें दूसरे लोगों से कराने पड़ते हैं, और जिनके लिये पैसे खर्च करने पड़ते हैं। वे काम वे बच्चों को दे सकते हैं। इससे बच्चों में आत्माभिमान बढ़ेगा और वे अपने पाँवों पर खड़े होना सीखेंगे। पर माता-पिताओं को घर में काम देते हुए यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ काम तो घर में ऐसे होते हैं जो कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य को करने पड़ते हैं, उन के लिये किसी को पैसे नहीं मिल सकते। उदाहरण के लिए, अगर खाना बनाने में लड़की माँ की मदद करती है तो इसके लिये उसको पैसा नहीं मिल सकता। यह तो उसको अपना कर्तव्य समझना चाहिये। कुटुम्ब में बहुत से काम ऐसे होते हैं जो सब को साथ मिलकर करने पड़ते हैं और जिनमें सब लोगों के सहयोग की जरूरत पड़ती है। पर अगर घर में कोई ऐसा काम आ पड़े जिसके लिए माता-पिता को पैसा खर्च करना पड़ता है, जैसे

कपड़ा सिलाना, तो उसके लिये लड़की को पैसा देना चाहिये और हिसाब से पूरा देना चाहिये। उस समय माता-पिता के सामने कर्तव्य का और पैसे से काम कराने का फ़र्क़ साफ़ होना चाहिये, नहीं तो उन को बाद में बड़ी अड़चन पड़ेगी। क्योंकि बच्चे हर एक काम के लिये पैसा माँगना शुरू करेंगे और उनको अपने कर्तव्य का बिल्कुल ही ध्यान नहीं रहेगा, वे अपना स्वार्थ ही चाहेंगे।

बचपन में बच्चों को पैसा कमाना इसलिये भी ज़रूरी है कि वे कमाकर पैसे का असली मूल्य समझें। जो पैसा मुफ़्त में मिल जाता है उसका कोई मूल्य नहीं होता। जिन बच्चों को मुफ़्त में पैसा मिल जाता है उनको जुआ खेलने की भी आदत पड़ जाती है। जुआरी हमेशा सट्टा करता रहता है और एक क्षण में राजा और दूसरे क्षण में रंक हो जाता है। जुआरी के लिये रुपये का कोई मूल्य नहीं। वह बचपन में जब अपना मल निकालता था तब ही सट्टे करने की आदत की नींव पड़ गई थी। वह अपने कल्पना-संसार में मल द्वारा सट्टा किया करता था और उसी आदत को वह रुपये द्वारा जारी रखता है। जुआरी बड़ा होने पर रुपयों से खेलता है, वही बचपन में मल से खेलता था। अगर माता-पिता बचपन ही में उसको रुपया कमाना सिखाएँ तो वह उस कल्पना-संसार में नहीं रहेगा। धन

उसके लिये एक काल्पनिक नहीं, वास्तविक वस्तु हो जायगा और वह रुपये का सच्चा मूल्य समझेगा।

जो माता-पिता इस बात की इच्छा करते हैं कि उनके बच्चे रुपयों का समुचित उपयोग और स्वयं प्रबन्ध करना सीखें, उनके लिये सबसे आवश्यक बात यह है कि वे स्वयं अपने जीवन में उन नियमों को काम में लायें जिनको वे अपने बच्चों को सिखाना चाहते हैं। प्रायः होता यह है कि माता-पिता स्वयं ख़र्चीले होते हैं और अपने आराम की चीज़ों के लिये व्यर्थ पैसे ख़र्च करते हैं, पर जब बच्चे उनसे अपने खिलौनों के लिये और अपनी किताबों आदि के लिये पैसे माँगते हैं तो वे उनको कम-ख़र्ची का पाठ पढ़ाने लगते हैं। बच्चे यह समझ नहीं सकते। वे माता-पिता को स्वार्थी समझते हैं और उनको क्रोध और घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

कुछ माता-पिता ऐसे होते हैं कि उनको कितना भी आर्थिक संकट हो और उसके कारण वे कितने भी चिन्तित रहते हों पर अपने बच्चों को खुश रखने के लिए रुपये उधार लेते हैं। अपने बच्चों को देखकर वे अपने बचपन की ग़रीबी याद करते हैं और उनको खुश कर करके वे अपनी कामनाओं को तृप्त करते हैं। पर दूसरी तरफ़ उनका क़र्ज़ा बढ़ता जाता है, और मन ही मन वे दुखी होते जाते हैं। अपनी तकलीफ़ वे बच्चों से छिपाने

की कोशिश करते हैं, पर उनकी चिन्ता का प्रभाव बच्चों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। बच्चे पैसे खर्च करते जाते हैं पर उसके साथ ही साथ उनके मन में आत्मग्लानि के भाव पैदा होते रहते हैं। इसके विपरीत कुछ माता-पिता ऐसे होते हैं जो अपना रोना रोज बच्चों के सामने रोया करते हैं। खाते समय, खेलते समय, उठते बैठते और सोते समय— हर वक्त वे बच्चों के सामने अपने आर्थिक संकट की बात करते रहते हैं। बच्चों के मन पर इसका भी बुरा असर पड़ता है, क्योंकि वे यह समझने लगते हैं कि वे खर्च करके अपने माता-पिताओं के संकट बढ़ा रहे हैं। ये दोनों ही प्रकार के माता-पिता बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। अगर माता-पिता गरीब हैं तो बच्चों को स्वयं अपनी हालत बताने में कोई हर्ज नहीं है। बच्चे समझदार होते हैं, वे उनकी स्थिति को और उनके संकट को धीरे धीरे जानने लगेंगे। पर इसको बार बार बच्चों से कहने से भी कोई लाभ नहीं। इससे बच्चे यह समझने लगते हैं कि कुटुम्ब के लिए वे भार हैं और अवांछित हैं। बच्चे के मन में जब इस प्रकार की भावनाएँ जग जाती हैं तो और भी कई तरह की खराबियाँ पैदा हो जाती हैं। बच्चों के सामने माता-पिता जितने ही स्पष्टवादी होंगे उतना ही अधिक उनके बच्चे उनकी कठिनाइयाँ समझेंगे और उनसे प्रेम करेंगे।

हमारे जमाने में रुपये ने बड़ा ऊँचा स्थान ले लिया है। लोगों को यह मालूम होना चाहिये कि रुपये का मूल्य मनुष्य के ऊपर निर्भर है। एक मनुष्य के पास यदि धन हो और उसका वह अच्छा उपयोग करना जानता हो तो उस धन का मूल्य उसके असली मूल्य से कहीं अधिक हो जाता है। उतना ही धन किसी दूसरे मनुष्य के पास हो जो उसको भली प्रकार से काम में लाना न जानता हो तो वह मिट्टी के बराबर हो जाता है। हम यदि चाहते हैं कि हमारे बच्चे धन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व न दें तो पहिले हम उनको यह बात अपने व्यवहार से सिखा दें। हमको जब कहीं से रुपया मिल जाता है तब हम आवश्यकता से अधिक प्रसन्न होते हैं और जब कहीं हमारा रुपया खो जाता या चोरी चला जाता है तब हम बहुत शोक करते हैं। हम रुपया कमाने के लिए झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं और चोरी भी कर बैठते हैं। हमें अपने अज्ञात मन को अच्छी तरह से टटोलना और समझना चाहिये। हमारा कमाया हुआ धन मानो हमारा मल ही होता है। हम जन्म भर बच्चे ही बने रहते हैं। जैसे छोटे बच्चे को अपने मल को रोकने में, निकालने में, उससे खेलने में और कभी कभी उसे खाने में रुचि होती है वैसे ही हमारी धन का सञ्चय करने में और उसके खर्चे करने में होती है। मनुष्य यदि धन के असली रूप को समझ ले

तो उसको इससे अवश्य अनासक्ति हो जायगी और उसका जीवन सुखमय हो जायगा। यदि हम रुपये के असली मूल्य को पहिचानने लग जायं तो हम जीवन की कला को अच्छी तरह से जानने लग जायंगे।

स्कूल में बच्चों की शिक्षा

घर और स्कूल

घर को छोड़कर बच्चा जब स्कूल में प्रवेश करता है तब वह अपने आपको एक दूसरी ही दुनिया में पाता है। साधारणतया बच्चे घर को छोड़कर स्कूल जाना पसन्द नहीं करते। जिस दिन बच्चा घर से स्कूल जाता है वह दिन उसके लिये बड़े रोने-पीटने का होता है। कारण यह होता है कि बच्चा घर में प्रेम और आश्रय के वातावरण में रहता है। घर से जब

यह निकाला जाता है तब वह चिन्तित होने लगता है। वह समझता है कि उसका प्रेम और आश्रय छिना जा रहा है और वह एक अजनबी दुनिया में भेजा जा रहा है।

स्कूल को बच्चा कितनी जल्दी अपना लेता है यह उसके घर के वातावरण पर निर्भर होता है। जो बच्चे प्रेम और विश्वास के वातावरण में पले होते हैं वे शीघ्र ही स्कूल में जम जाते हैं। वे स्कूल के शिक्षकों और साथियों को प्रेम और विश्वास की दृष्टि से देखते हैं। जिन बच्चों को घर पर प्रेम नहीं मिला होता, जिनको छोटी छोटी बातों के लिये ताड़ना मिली होती है और जो बच्चे लापरवाही के वातावरण में पले होते हैं वे स्कूल में बहुत काल तक जम नहीं पाते। ऐसे बच्चों को एक तो स्कूल के नये वातावरण में विश्वास नहीं होता, क्योंकि इनको घर पर प्रेम नहीं मिला होता, और दूसरे अपने मन में ये बच्चे यह समझने लगते हैं कि इनको घर से इसलिये ढकेला जा रहा है कि ये यहाँ अवाञ्छनीय हैं। इस कारण ऐसे बच्चे आसानी से स्कूल में जम नहीं पाते, बार बार अपने घर को भागना चाहते हैं। प्रेम का प्यासा बच्चा अपनी कामना को तृप्त करने के लिये बार बार घर भागता है। जितनी अधिक उससे घृणा की जाती है उतना ही अधिक उसका स्कूल में जमना कठिन हो जाता है। जिस बच्चे को घर में काफी प्रेम मिला हो उस बच्चे के लिये

स्कूल में जमना कठिन होना चाहिये, क्योंकि वहाँ वह अपने आप को एक अपरिचित वातावरण में पाता है। पर होता उल्टा ही है।

स्कूल में कब प्रवेश हो ?

ढाई या तीन वर्ष तक तो बच्चे को घर ही में रहना चाहिये। जो प्रेम और आश्रय उसको घर में मिलता है वह अन्य किसी भी स्थान में नहीं मिल सकता। दो या ढाई वर्ष के बाद उसके खेल के लिये और कूदने-फाँदने के लिये घर की चारदिवारी में काफी जगह नहीं रहती। साधारणतः तीन वर्ष तक बच्चा कूदना, फाँदना, दौड़ना और चढ़ना इत्यादि कलाएँ सीख लेता है। जो वस्तुएँ उस के सामने होती हैं उनको पहिचानता है और उनको पुरानी जगहों से हटा नई जगहों में लगाकर नये सम्बन्ध जोड़ता है। इस वय तक वह लगभग २००० या २५०० शब्द सीख लेता है। अपनी सभी इन्द्रियों— आँख, कान, नाक, इत्यादि— को वह भली प्रकार काम में लाता है और स्मरण-शक्ति, कल्पना और बुद्धि का भी उपयोग करने लगता है। उसको अपनी और दूसरों की वस्तुओं में भेद मालूम होने लगता है और वह अपना उत्तर-दायित्व समझने लगता है। उसको स्थान, समय और संख्या का ज्ञान होने लगता है। इस अवस्था में बच्चे को नई नई वस्तुएँ खोजने की चाह होती है। घर में यदि वह वस्तुओं को इधर-

उधर करता है तो उसको डाँट-फटकार सुननी पड़ती है। घर में एक भी ऐसा कोना नहीं होता जहाँ उसको पूरी आज़ादी हो, जहाँ वह अपना मनचाहा काम कर सके और जहाँ वह अपने खिलौने और अन्य वस्तुएँ रख सके। खाने-पीने का और सोने-बैठने का जितना भी घर में सामान होता है वह बच्चों के सुभीते के ख़याल से नहीं रक्खा जाता। माता-पिता अपने अपने काम में लगे रहते हैं और बच्चों की आवश्यकताओं को समझने का और उन्हें सहायता देने का उनको अवकाश नहीं मिलता। इस कारण घर में रहते हुए भी बच्चे घर को अपना घर नहीं समझते।

इस अवस्था के बच्चे एक और आवश्यकता अनुभव करते हैं, जिसको घर सदा पूरा नहीं कर सकता। वे समान वय के बच्चों के साथ खेलने के बड़े इच्छुक होते हैं। घर में और पड़ोस में सदा ऐसे साथी मिल नहीं सकते। साथियों के बीच न रहने से बच्चों में सामाजिक शिक्षा की अच्छी नींव नहीं पड़ती और उनमें आत्म-विश्वास भी उत्पन्न नहीं होता।

इसलिये बच्चे को इस वय में किसी शिशु-शाला में भेज देना चाहिये, जहाँ वह खुली हवा में रह सके, अपने मनचाहे खेल खेल सके, अपने वय के साथियों में रहकर सामूहिक भाव, सामाजिक शिक्षा प्राप्त कर सके और आत्म-विश्वास बढ़ा सके।

हमारे देश में अभाग्यवश ३ और ५ वर्ष के बच्चों के लिये शिशु-शालाएँ बहुत कम हैं। इसी वय में बच्चों के चरित्र की नींव पड़ती है, इसलिये इस ओर ध्यान देना प्रत्येक माता-पिता का परम कर्तव्य है। जिस गाँव में या जिस शहर में शिशु-शालाएँ नहीं हैं वहाँ माता-पिता कम से कम इतना तो कर दें कि बच्चों की इन्द्रियों के विकास के लिये कुछ खिलौने, खेलने के लिये एक चौक, हो सके तो एक बगीचा और उपर्युक्त सामान को रखने के लिये घर में एक कोना दे दें। पर यदि शहर में शिशु-शाला हो तो २॥ या ३ वर्ष की अवस्था के बच्चों को वहाँ भेज देना चाहिये। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा वहीं शुरू हो जाती है। शिशु-शालाओं में अक्षर-ज्ञान नहीं कराया जाता है। वहाँ बच्चा अपनी इन्द्रियों के ज्ञान को बढ़ाता है और अपने मन और भावों का विकास करता है। जब वह पाँच या छः वर्ष का होता है तब उसको अक्षर-ज्ञान कराया जाता है।

पुराना और नया स्कूल

प्रत्येक माता-पिता को इस बात की इच्छा होती है कि अपने बच्चों को अच्छे स्कूल में भेजें, जहाँ उनका ठीक शारीरिक, मानसिक और भावात्मक विकास हो सके। हमारे देश में आजकल जो स्कूल हैं वे प्रायः पुराने ढंग के हैं। उनमें बच्चों को पढ़ाया-लिखाया तो जाता है पर उनके विकास की ओर या चरित्र-निर्माण की ओर

बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इस दोष के मिटाने के लिये जहाँ तहाँ 'नये' स्कूल खोले जा रहे हैं। इनकी गिनती अभी बहुत कम है। पुराने और नये स्कूलों में क्या अन्तर है? पुराने स्कूलों से हम सभी परिचित हैं, क्योंकि हम सभी उन्हीं स्कूलों में से निकले हैं। उन स्कूलों का चित्र अब भी हमारे सामने है। पुरानी इमारतें, जिनके चारों तरफ लोगों का शोर-गुल होता हो, लम्बी लम्बी बेंचों की कतारें, ऊँचे ऊँचे काले बोर्ड, लम्बी लम्बी दाढ़ी वाले मास्टर, जिनके हाथों में मोटे डण्डे देखते ही बच्चों के डर के मारे रोंगटे खड़े हो जायें, मास्टर जब तक क्लास में रहें सन्नाटा रहे और ज्योंही वे पीठ मोड़ें शोर-गुल उमड़ पड़े, बिना आज्ञा लड़कों के हाथ-पैर न हिल सकें, मास्टर जो कुछ पढ़ाये, जो कुछ कहे, उसको बिना पूछ-ताछ के चुपचाप सुन लिया जाय और तोते की तरह दुहरा दिया जाय, किसी प्रकार की आज्ञा का उल्लंघन करने से अथवा नियम के तोड़ने से अपशब्द और दण्ड मिले, घण्टी बजने पर मशीन के पुर्जों की तरह बच्चे एक क्लास से दूसरी क्लास में जायें—यह पुराने स्कूल की एक रूपरेखा है। साधारण स्कूल इतना अप्राकृतिक हो गया है कि उसमें चैतन्य बालक अपनी चेतना को देर तक बनाये नहीं रख सकता। जब वह स्कूल से पढ़-लिखकर दुनिया में आता है तब वह घबराया-सा होता है। संसार की नई

स्थितियों का सामना करने में वह बिल्कुल असमर्थ होता है। स्कूल बच्चों को जीवन के लिए तैयार करने का दावा रखता है, पर उसमें जीवन का लेश भी नहीं होता।

नये स्कूल का वातावरण इससे भिन्न होता है। उसमें बच्चे को चलने-फिरने की, खेलने-कूदने की और आत्म-विकास की पूरी स्वतन्त्रता होती है। प्रयोगों द्वारा बच्चा अपने आप नये अनुभव प्राप्त करता है। उस वातावरण में बच्चा स्वतन्त्र होता है। साथ ही, अपने साथियों के प्रति और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझता है। वहां शिक्षक मित्र होता है और प्रेम से, न कि भय से या दबाव से, काम लेता है। बच्चा अपनी रुचि के अनुसार काम करता है। उस पर किसी का दबाव नहीं होता। उसके चारों ओर सुन्दर वातावरण होता है जिससे वह सौन्दर्य की उपासना द्वारा अपने भावों का सुन्दर विकास कर सके। उसको ऐसी स्थितियों में काम करने का अवसर दिया जाता है जिनमें वह बिना अपना व्यक्तित्व खोये, सामाजिक दृष्टि से अपने सब विचार और कार्य नियमित कर सके। ऐसा स्कूल जागृति और चैतन्य के कारण जीवन और समाज का एक श्रेष्ठ केन्द्र हो जाता है।

बच्चा और शिक्षक

माता-पिता को छोड़कर बच्चों के जीवन पर सब से अधिक प्रभाव शिक्षक का पड़ता है। शिक्षक बच्चों की मानसिक और

भावात्मक प्रवृत्तियों का सच्चा मित्र होता है। वह बच्चों को केवल अक्षर-ज्ञान ही नहीं कराता, उनके जीवन की ग्रन्थियों को सुलझाने में भी सहायता देता है। शिक्षक को कई वर्गों को सम्हालना पड़ता है, पर वह प्रत्येक बच्चे के व्यक्तित्व को पहिचानता है और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे पूरी सहायता देता है। शिक्षक सदियों का सञ्चित ज्ञान बच्चों के दिमाग में भर नहीं देता, वह बच्चों को भी अपने आप खोज करने का और अनुभव प्राप्त करने का पूरा अवसर देता है। शिक्षक अपने प्रेम से बच्चों की घृणा को प्रेम में और उनकी नाशकारी प्रवृत्तियों को सृजनकारी प्रवृत्तियों में बदल देता है। यदि शिक्षक यह सब काम नहीं करता है तो वह अपने कर्तव्य का पूरा पालन नहीं करता। शिक्षक यदि उल्टी रीति से काम ले, अर्थात् प्रेम के बजाय भय और क्रोध से काम ले, तो बच्चों के दिमाग खुलने के बजाय बन्द हो जाते हैं। कई होशियार बच्चे ऐसे देखे गये हैं कि वे और सब विषयों में होशियार हो गये पर जिन विषयों के शिक्षकों के साथ उनकी पटी नहीं उन विषयों से उनको सदा के लिए घृणा हो गई। इसलिए शिक्षक को बहुत सावधान रहना चाहिये कि वह कहाँ प्रेम और कहाँ कठोरता दिखाये। इसका विचार उसको प्रतिक्षण करना पड़ेगा। प्रायः बच्चों में अपने माता-पिताओं के प्रति जैसे भी प्रेम या घृणा

के भाव होते हैं वैसे ही वे शिक्षकों के प्रति प्रकट करते हैं और जैसे भाव अपने भाई-बहिनों के प्रति होते हैं वैसे ही वे अपने स्कूल के साथियों के प्रति प्रकट करते हैं। एक बच्चा स्कूल में आकर रोज शिक्षकों से झगड़ा करता था, बात बात पर उनको गालियाँ देने लगता था। खोज करने पर पता लगा कि सचमुच उसका यह क्रोध शिक्षकों पर नहीं, उसके पिता पर था। स्कूल में पिता के स्थान पर शिक्षक थे। इसी तरह जो बच्चे अपने साथियों से लड़ाई-झगड़ा करते हैं या उनको मारते हैं वे मानो अपने अपने भाई-बहिनों के प्रति अपने क्रोध को साथियों पर प्रकट करते हैं। बच्चों के इस अनजान प्रयोजन को जानना शिक्षक के लिये बहुत आवश्यक है।

कुछ बच्चे जन्म से ही मन्दबुद्धि और कुछ तीव्रबुद्धि होते हैं। बच्चों की बुद्धि मनोवैज्ञानिकों द्वारा मापी जा सकती है। जो बच्चे बहुत मन्दबुद्धि और मूर्ख होते हैं वे बहुत उन्नति नहीं कर सकते। जो बच्चे तीव्रबुद्धि होते हैं वे जल्दी जल्दी उन्नति कर सकते हैं। पर कभी कभी ऐसा होता है कि तीव्रबुद्धि बच्चे भी मानसिक अथवा भावगत द्वन्द्वों के कारण अपने कामों में उन्नति नहीं कर सकते। उनकी सारी शक्ति द्वन्द्वों ही में खर्च हो जाती है। इस कारण उनकी शक्ति पढ़ाई या और कामों के लिये बहुत ही कम रह जाती है। शिक्षक को इन बातों का ध्यान रखते हुए

प्रत्येक बच्चे को व्यक्तिगत सहायता देनी चाहिये, नहीं तो उस के भरसक प्रयत्न करने पर भी बच्चों की उन्नति नहीं होगी और उसके सब प्रयत्न निष्फल होंगे।

शिक्षक और माता-पिता

शिक्षा के विषय में शिक्षक और मात-पिता की एक ही दृष्टि होनी चाहिये। शिक्षक और माता-पिता में यदि सहयोग न हो तो बच्चे पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। माता-पिता (उन में भी प्रायः सहयोग नहीं होता) बच्चे को एक ओर ले जाना चाहते हैं और शिक्षक दूसरी ओर। परिणाम यह होता है कि बच्चा छोटी अवस्था में यह निश्चय नहीं कर पाता कि कौन उस को ठीक राह पर ले जा रहा है और वह एक ओर— चाहे माता-पिता की, चाहे शिक्षक की ओर— पक्षपात करने लगता है। कभी-कभी बच्चा दो दलों के बीच खेल सा करने लगता है— कभी माता-पिता के पक्ष में और कभी शिक्षक के। इस तरह वह अपना स्वार्थ साधता रहता है। इसको रोकने के लिये माता-पिता और शिक्षक में पूरा सहयोग होना आवश्यक है।

प्रायः माता-पिता और शिक्षक में वैमनस्य रहता है। इसका एक कारण तो यह है कि माता-पिता प्रायः शिक्षक को अपना नौकर समझते हैं। शिक्षक किसी व्यक्ति का नौकर नहीं होता, वह समाज का नौकर होता है और उसको अपने काम में स्वतन्त्रता

का उतना ही अधिकार है जितना किसी और व्यक्ति के। वैमनस्य का दूसरा कारण यह होता है कि माता-पिता शिक्षा के विषय में अपने आप को चतुर समझते हैं और वे शिक्षक के कार्य में बराबर दखल देते रहते हैं। शिक्षक अपना सारा समय शिक्षा के अध्ययन में और बच्चों की मनो-वृत्तियाँ समझने में लगाता है। यह सम्भव नहीं है कि सर्व-साधारण जन उसके बराबर उसके विषय में ज्ञान उपार्जन कर सकें। माता-पिता हर बात में शिक्षक से बहस जरूर करें, उससे पूछ-ताछ करें, पर अन्तिम निर्णय उसी पर छोड़ दें। जिस प्रकार डाक्टर से बिना बहस किये और बिना जाँच किये हम उसका नुसखा काम में ले आते हैं, उसी प्रकार शिक्षक की बात भी हमको माननी चाहिये, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सब विषयों में यथेष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। मैं शिक्षक के नाते शिक्षक का बचाव नहीं कर रहा हूं। इसी में बच्चों का हित है। किसी स्कूल में या शिक्षक में माता-पिता को विश्वास न हो तो उस स्कूल में या उस शिक्षक के पास वे बच्चों को न भेजें। पर एक बार बच्चों के भेजने के बाद माता-पिता को शिक्षक में पूरा विश्वास रखना चाहिये। शिक्षक को भी चाहिये कि अपना दृष्टिकोण माता-पिताओं को बताने का भरसक प्रयत्न करे।

बहुतेरे माता-पिता अपने बच्चों के सामने उनके शिक्षकों की और उनके स्कूल की बुराई करने में कुछ अपनी बड़ाई समझते

हैं। ऐसे माता-पिता अपने ही हाथों से अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारते हैं। वे यह नहीं समझते कि बच्चों के सामने शिक्षकों की बुराई करने से वे अपनी ही बुराई करना सिखाते हैं और बच्चों के सामने एक बड़ा बुरा उदाहरण रखते हैं। माता-पिता यदि चाहते हैं कि उनके बच्चे संसार में सत्य और सुन्दर के प्रति श्रद्धा के भाव रक्खें तो इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उनके मन में शिक्षा के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न करें और यह तभी हो सकता है जब बच्चों के मन में शिक्षक के प्रति श्रद्धा हो। इस श्रद्धा का अर्थ यह नहीं है कि बच्चे शिक्षक में अन्ध विश्वास रक्खें। श्रद्धा अन्ध विश्वास नहीं है। श्रद्धा तो केवल मन का एक झुकाव है जो किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति उस की महत्ता के कारण मनुष्य के मन में हो जाता है। बच्चों के मन में स्वभाव से ही माता-पिता तथा शिक्षकों के प्रति श्रद्धा होती है, यदि जान-बूझ कर वह उखाड़ न दी जाय।

शिक्षक और बालक दोनों साथ मिलकर सत्य का अनुसंधान करते हैं। माता-पिता जब इस अनुसन्धान में सहयोग देते हैं तब उनका मार्ग सरल हो जाता है।

सह-शिक्षा

बच्चे का चरित्र बनाने में घर का पहिला स्थान है और स्कूल का दूसरा। स्कूल के शिक्षकों, विद्यार्थियों और वहाँ के सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण का बच्चे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक समझदार माता-पिता को अपने बच्चे को किसी स्कूल में भेजने के पहिले यह विचारना आवश्यक है कि उसको वहाँ उसकी आवश्यकता के

अनुसार शिक्षा मिलेगी या नहीं। स्कूल कई प्रकार के होते हैं और कई उद्देश्यों से चलाये जाते हैं। वह स्कूल सब से अच्छा समझा जाना चाहिये जहाँ बच्चे के शारीरिक, मानसिक और भावगत विकास के पूरे साधन मिल सकें। मिश्र स्कूल, जहाँ लड़कों और लड़कियों को सह-शिक्षा मिलती हो, बच्चों के पूर्ण विकास में सहायक होता है या नहीं, यह प्रश्न प्रत्येक माता-पिता के विचारने का है।

सह-शिक्षा के विषय में बहुत तर्क-वितर्क हो चुके हैं और अब भी जारी हैं। इस विषय में लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। प्रायः तर्क करने वाले न तो कोई सह-शिक्षा का अनुभव रखते हैं और न इस विषय का कोई वैज्ञानिक अनुसन्धान ही किये होते हैं। वे बस रूढ़ि और अपने अन्ध-विश्वासों के आधार पर अपनी राय क़ायम कर लेते हैं। ऐसी राय का वैज्ञानिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं होता। समझदार आदमी को इस तरह की राय माननी नहीं चाहिये।

मैं प्रारम्भ ही में बता देना चाहता हूँ कि मुझे भी सह-शिक्षा का कोई अनुभव नहीं है। मुझे मिश्र स्कूल में पढ़ने का अवसर नहीं मिला। यूनिवर्सिटी में ज़रूर थोड़ा सा अवसर मिला था, पर वह नहीं के बराबर था, क्योंकि हमारी यूनिवर्सिटी में यद्यपि लड़के और लड़कियाँ साथ पढ़ती थीं पर उनके पारस्परिक

सम्पर्क स्थापित होने नहीं पाते थे। लड़कों और लड़कियों पर इतना दबाव था कि उनकी हिम्मत नहीं पड़ती थी कि आपस में बातचीत करें। लड़कियों को लड़कों से बातचीत करने की अनुमति नहीं थी और सूर्यास्त के बाद उनको अपने होस्टल के बाहर निकलने की आज्ञा नहीं थी। कभी किसी लड़के ने किसी लड़की को प्रेम-पत्र लिख दिया और इसकी सूचना आचार्यों के पास पहुँच गई तो उस लड़के को यूनिवर्सिटी से अलग कर दिया जाता था। ऐसी शिक्षा-प्रणाली को सह-शिक्षा न कहकर सह-पठन मात्र कहना ठीक होगा, क्योंकि इस तरह के दबाव के कारण सह-शिक्षा का ध्येय पूरा नहीं होता।

शिक्षक के नाते भी मेरा इस विषय में अभी तक अनुभव नहीं के बराबर है। हमारा स्कूल (विद्याभवन) लड़कों और लड़कियों को साथ पढ़ाने को तैयार है, पर लड़कियों की शिक्षा पर माता-पिताओं के काफ़ी ध्यान न देने से और सह-शिक्षा का अन्ध-विश्वास के कारण विरोध होने से लड़कियाँ आती नहीं हैं। अब कुछ लड़कियों का आना शुरू हुआ है, पर अभी तक उनकी संख्या इतनी थोड़ी है कि इस अनुभव पर कोई राय क़ायम करना बड़ी ग़लती होगी। फिर मुझे सह-शिक्षा पर कुछ कहने का अधिकार क्या है? मैं यहाँ सह-शिक्षा का पक्ष नहीं ले रहा हूँ। इस विषय पर मनोविज्ञान में जो कुछ खोज हुई है

उसका विवेचन करूँगा और वैज्ञानिक प्रयोग की दृष्टि से इस विषय की जाँच करने का यत्न करूँगा।

हमारे समाज में आजकल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की समस्या सब से बड़ी है। इसी समस्या के भले प्रकार हल होने पर मनुष्य-समाज सुखी हो सकता है। आजकल जो स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध है, उसमें बड़ा दबाव है। इस कारण दोनों के जीवन में बड़ी अशान्ति है। सुशिक्षा का एक काम यह भी है कि बालक-बालिकाओं में एक दूसरे के प्रति मेल का भाव पैदा करदे जिससे भविष्य में वे कौटुम्बिक जीवन को सुख से और शान्ति से बिता सकें। हमारी आजकल की शिक्षा तो इसका अवसर ही नहीं देती है। बालक और बालिकाओं को अलग-अलग स्कूलों में पढ़ाया जाता है। उनको मिलने का और परस्पर के मनोभावों को समझने का मौका ही कहाँ मिलता है? सह-शिक्षा इसी समस्या को हल करने का प्रयत्न करती है।

सह-शिक्षा-प्रणाली भारतवर्ष में भले ही नई प्रणाली हो पर संसार के लिए नई नहीं है। यह अमेरिका और योरप के कई देशों में प्रचलित है और वहाँ इसके संतोषजनक फल भी मिले हैं।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि हमको पश्चिमीय विचारों को बिना उनकी जाँच किये हुए और बिना अपनी

संस्कृति से उनका मेल देखे हुए अपना लेना चाहिये। कोई भी विचार पनप नहीं सकेंगे जब तक कि वे देश की संस्कृति के योग्य न होंगे। भाग्यवश हमारी संस्कृति और सभ्यता बहुत पुरानी है और हम हर समय नये विचारों को उसके साथ मिलान करके अपना सकते हैं। हम जितना ही पीछे मुड़कर देखेंगे, हमको पता लगेगा कि स्त्री का स्थान हमारे समाज में बहुत ऊँचा था। यह कहा गया है कि पति और पत्नी एक ही शरीर के दो आधे-आधे अंग हैं। स्त्रियों में पढ़ना-लिखना बहुत साधारण सी बात थी। उपनिषद् तथा रामायण और महाभारत के समय में ऐसी कितनी ही स्त्रियों का उल्लेख है जो बड़ी विदुषी थीं, जैसे मैत्रेयी, गार्गी, आत्रेयी इत्यादि। इससे यह बात तो स्पष्ट है कि स्त्रियों को ऊँची शिक्षा का अवसर मिलता था। यह बहुत बाद की बात है कि स्त्रियों का स्थान नीचा हो गया। तीसरी बात, जिसके ऊपर हमारे यहाँ बहुत ज़ोर दिया गया है, कौटुम्बिक जीवन और उसका सुख है। मनुष्य स्त्री और बच्चे के बिना अधूरा रहता है। तीनों के मिलने से ही मनुष्य अपनी पूर्णता को पाता है।

अपनी संस्कृति की इन प्रधान बातों को ध्यान में रखते हुए हम सह-शिक्षा की प्रणाली की परीक्षा कर सकते हैं। हमारे लिये देखने की बात यह है कि भारतीय संस्कृति के आदर्शों को

अपने सामने रखते हुए नवयुग की आवश्यकताओं को हमारे बालक और बालिकाएँ किस तरह पूरा कर सकते हैं।

सह-शिक्षा की प्रथा अमेरिका में सबसे अधिक प्रचलित है। अमेरिका के यूनाइटेड स्टेट्स में प्रायः सभी स्कूलों में लड़के और लड़कियाँ साथ पढ़ते हैं। पर अमेरिका में सह-शिक्षा का ध्येय लेकर शिक्षा की प्रणाली नहीं चलाई गई थी। वहाँ तो अनिवार्य कारणों से उनको सह-शिक्षा की प्रणाली ग्रहण करनी पड़ी। अमेरिका-निवासी अपनी सभ्यता को बनाने की जल्दी में थे। वहाँ लड़कियों के लिये अलग स्कूल स्थापित करने का समय नहीं था। पहिले वहाँ लोग लड़कियों की शिक्षा को महत्त्व भी नहीं देते थे और जो थोड़ी बहुत लड़कियां पढ़ने आती थीं वे लड़कों ही के स्कूलों में भर्ती कर ली जाती थीं। धीरे धीरे जब लड़कियों की शिक्षा की ज़रूरत समझी जाने लगी तब भी वे ही स्कूल क़ायम रहे और लड़के और लड़कियां साथ पढ़ते रहे। इस तरह वहां सह-शिक्षा की प्रणाली प्रचलित हुई। अमेरिका की सभ्यता में, वहां के सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन में, एक जो ख़ास बात है, जो वहां के सारे जीवन में संचार करती है, वह समता की लहर है। इसी लहर का फल है कि अमेरिका ने सह-शिक्षा की प्रणाली को अपनाया और इसको क़ायम भी रक्खा। सह-शिक्षा में ख़ास बात यह है कि यह लड़कों और लड़कियों को शिक्षा-उपार्जन का बराबर अवसर देती है।

योरप में भी प्रत्येक देश इस समस्या पर विचार कर रहा है और इसको हल करने का प्रयत्न कर रहा है। इँग्लैंड ने अपने सेकंडरी (माध्यमिक) स्कूलों में सह-शिक्षा को नहीं अपनाया है, पर वहाँ कई स्कूल ऐसे हैं जो लड़के और लड़कियों को साथ पढ़ाते हैं और उनको सरकार से सहायता मिलती है। ऐसे स्कूलों में लड़के और लड़कियाँ साथ पढ़ाये तो जाते हैं पर पढ़ने के अलावा उनको साथ मिलने का या परस्पर सम्पर्क स्थापित करने का कोई मौक़ा नहीं मिलता है। इस तरह के स्कूल सह-शिक्षा के ध्येय को लेकर नहीं खोले गये हैं, इस कारण वे सह-शिक्षा के सिद्धान्तों पर बहुत ध्यान नहीं देते। इन स्कूलों में लड़के और लड़कियाँ बस ख़र्चे की बचत के कारण भर्ती कर दिये जाते हैं। इस कारण इनके यहां के परिणामों का कोई अधिक मूल्य नहीं है। लड़के और लड़कियां एक ही इमारत में लिखते-पढ़ते हैं, लेकिन शिक्षकों की उनपर कड़ी निगरानी रहती है; काम करते वक्त, आराम के वक्त और खेल में उनको परस्पर मिलने का बहुत कम मौक़ा दिया जाता है। पर वहां कुछ ऐसे अगुआ स्कूल भी हैं जहां सह-शिक्षा के सिद्धान्त पूरी तरह से काम में लाये जाते हैं, जैसे बीडेल्स का स्कूल, हार्पेन्डन में सेंट जार्ज स्कूल, मिडिलसेक्स में कुछ स्कूल और डार्टिंग्टन हॉल स्कूल। इन स्कूलों के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इँग्लैंड की सरकार ने अभी सह-शिक्षा को अपनाया नहीं है।

स्कॉटलैंड की हालत भी कुछ ऐसी ही है। यहां प्रायः सभी स्कूलों में लड़के-लड़कियां साथ पढ़ते हैं, पर क्लासों में और उनके बाहर भी उनके ऊपर कड़ी निगरानी रक्खी जाती है।

वेल्स में यथार्थ सह-शिक्षा का पालन करनेवाले कुछ अच्छे स्कूल हैं। यहां लड़के-लड़कियां साधारणतः साथ पढ़ते हैं और उनको मिलने जुलने का भी काफी मौक़ा दिया जाता है। इसका परिणाम अच्छा ही होता है।

योरप में बल्गेरिया ही एक ऐसा देश है जिसने सह-शिक्षा को सिद्धान्त रूप से मान लिया है। बल्गेरिया में अधिकारी-वर्ग, शिक्षा के आचार्य और शिक्षकगण सभी सह-शिक्षा में पूरा विश्वास करते हैं। बल्गेरिया के जितने भी एलिमेंटरी (प्रारंभिक) स्कूल हैं वे सह-शिक्षा का पालन करते हैं और ७० की सदी सेकंडरी (माध्यमिक) स्कूलों में लड़के और लड़कियां साथ पढ़ते हैं।

पोलैंड भी धीरे धीरे सह-शिक्षा को अपना रहा है। फ्रांस, जर्मनी और इटली सह-शिक्षा के विरोधी हैं। फ्रांस में तो गांवों के प्रारम्भिक स्कूलों में भी जहां तक हो सकता है लड़के और लड़कियां अलग रक्खे जाते हैं। पश्चिम के देशों की शिक्षा-पद्धति को एक दृष्टि से देखने से तो यह मालूम होता है कि अधिकतर देशों ने सह-शिक्षा को अभी तक अपनाया नहीं है।

इसका मुख्य कारण यह मालूम होता है कि राज्य अपनी सत्ता स्थिर रखने के लिये नये सुधारों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और सँभल सँभलकर चलना चाहते हैं।

अन्य देशों में और हमारे देश में भी सह-शिक्षा की कुछ ऐसी ही स्थिति है। भारतवर्ष में कुछ स्कूल ऐसे हैं— जैसे बंगाल में शान्तिनिकेतन और उपाग्राम, बम्बई में न्यू एरा स्कूल और न्यू एज्यूकेशन फेलोशिप स्कूल और उदयपुर में विद्याभवन, जो सह-शिक्षा के आदर्श को लेकर चलाये गये हैं। इस प्रकार के मिश्र स्कूल बहुत कम हैं। उनके कामों का और उनके परि-णामों का कोई ब्योरा हमारे पास नहीं है, इससे उनकी साधारण भिन्न स्कूलों से तुलना करना बड़ा कठिन है। इस समय जब हमारे देशवासी शिक्षा में सुधार के विचार में लगे हैं, यह भी आवश्यक है कि वे यह पता लगायें कि हमारे बालकों तथा बालिकाओं का पूर्ण विकास भिन्न स्कूलों में संभव है या मिश्र स्कूलों में। पता लगाने का ठीक तरीक़ा तो यह है कि प्रत्येक प्रान्त में सह-शिक्षा की प्रणाली पर कुछ मिश्र स्कूल चलाए जायँ और फिर उनके परिणामों की भिन्न स्कूलों के परिणामों से तुलना की जाय।

यहां यह उचित है कि सह-शिक्षा के विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं, उन पर विचार किया जाय। इसके पहले यह ठीक होगा

कि सह-शिक्षा के विषय में एक भ्रम दूर कर दिया जाय। कुछ लोगों का ऐसा ख़याल है कि सह-शिक्षा स्त्री और पुरुष के भेद को बिल्कुल मिटाना चाहती है। यह समझना बड़ी भूल है। सह-शिक्षा के समर्थक स्त्री और पुरुष के भिन्न गुणों को और उनकी भिन्न आवश्यकताओं को पूरी तरह से पहिचानने की कोशिश करते हैं और इस बात का पूरा प्रयत्न करते हैं कि स्कूल में तथा बाहर स्त्री और पुरुष दोनों के गुणों का पूर्ण विकास हो। सह-शिक्षा की प्रणाली पर चलनेवाले स्कूल का सारा संगठन— उस की शिक्षण-पद्धति, खेल और व्यायाम— ऐसा होता है जिससे दोनों लिंगों की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके।

सह-शिक्षा के विरोधियों का मुख्य तर्क यह होता है कि स्त्री और पुरुष में भिन्न लिङ्गों के कारण शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक भेद हैं, इससे उनके पूर्ण विकास के लिए भिन्न स्कूल होने आवश्यक हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्री और पुरुष में शारीरिक भेद हैं। साधारणतया यह पाया जाता है कि लड़कियाँ लड़कों के बराबर बलवान् नहीं होतीं। वे सुकुमार होती हैं। उनकी रगें इतना ज़ोर नहीं सह सकतीं जितना कि लड़कों की, और युवा-वस्था में तो वे विशेष सुकुमार हो जाती हैं। पर क्या इस शारीरिक भेद के कारण लड़कों और लड़कियों के लिये अलग

स्कूल जरूरी हैं? लड़कियों के ऊपर जो युवावस्था में अधिक बोझ न डालने की बात है वह तो मिश्र स्कूल या भिन्न स्कूल दोनों ही में लागू हो सकती है। शिक्षा का ढंग अगर बुरा है तो चाहे वह मिश्र स्कूल हो चाहे भिन्न दोनों ही एक से हैं। बोझ पड़ने या जोर पड़ने का एक खास कारण होता है— एक लिंग का दूसरे लिङ्ग के साथ बराबरी करना। भिन्न स्कूलों में बराबरी करने की या होड़ की भावना अधिक होती है। मिश्र स्कूल अगर अच्छे ढंग पर चलाये जायँ तो उनमें होड़ की भावना बहुत कम की जा सकती है, क्योंकि वहाँ सहयोग के अवसर बहुत मिलते हैं। इसके अलावा खेल, कसरत और दूसरे शारीरिक परिश्रम के कामों में लड़कों और लड़कियों के लिए अलग अलग प्रबन्ध किये जा सकते हैं। इस प्रकार बोझ की समस्या तो हल हो सकती है।

सह-शिक्षा की प्रणाली से चलने वाले स्कूलों में कहीं तो लड़कों और लड़कियों के लिए खेल का अलग अलग प्रबन्ध किया जाता है और कहीं खेल साथ भी होता है। कुछ लोगों की राय है कि युवावस्था में, जब कि लिंग का भेद मन में बहुत ही स्पष्ट हो, लड़कों और लड़कियों के लिये खेल अलग अलग कर देना चाहिये। इङ्गलैंड में राज्य की सहायता से सह-शिक्षा की प्रणाली पर चलने वाले स्कूलों में प्रायः खेल का अलग अलग

प्रबन्ध होता है। इसके विपरीत कुछ लोगों का यह विचार है कि खेल के मैदान में लड़कों और लड़कियों को अलग नहीं करना चाहिये, क्योंकि खेल का मैदान ही तो ऐसा स्थान है जहाँ दोनों लिङ्गवाले बच्चे स्वतन्त्र और समान भाव से मिल सकते हैं और इसके परिणाम-स्वरूप उनमें एकता का भाव उत्पन्न हो सकता है। इसमें तो कोई भी सन्देह नहीं कि लड़कियाँ लड़कों से, विशेषतः युवावस्था में, अधिक सुकुमार होती हैं। परन्तु इस भेद पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर दिया गया है। इसके विपरीत कुछ लोगों का यो खयाल था है कि लड़की अक्सर लड़के से ज़्यादा काम कर सकती है। सह-शिक्षा की प्रणाली से चलने वाले स्कूल को यह भेद अवश्य ध्यान में रखना चाहिये और अगर उनके शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी हो तो लड़कियों और लड़कों के खेल के लिए अलग अलग प्रबन्ध कर देना चाहिये।

दूसरी बात जिसका कि हमको विचार करना है वह लड़कों और लड़कियों के बुद्धिभेद का है। इस विषय पर लोगों ने मनमाना विचार प्रकट किया है, जिसका कोई प्रमाण नहीं है। यह प्रायः कहा गया है कि स्त्री में पुरुष से बहुत कम बुद्धि होती है। बिना किसी भी प्रकार की खोज किये हुए लोगों ने यह राय बना ली है। इससे स्त्री-जाति का बड़ा अहित हुआ है।

इस विषय में कुछ प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने, जैसे अमेरिका की मिस हेलेन टामसन और प्रो० थार्नडाइक तथा लन्दन यूनिवर्सिटी के प्रो० सिरिल बर्ट ने अच्छी खोज की है। वे एक ही निर्णय पर पहुँचे हैं और वह यह है कि लड़कियों और लड़कों का बुद्धि में कोई विशेष भेद नहीं है। जो कुछ भी भेद उनमें मालूम होता है वह उनके भिन्न सामाजिक वातावरण तथा भिन्न प्रकार की शिक्षा के कारण होता है। लड़कियों और लड़कों को हम प्रारम्भ से ही अलग अलग वातावरण में रखते हैं, क्योंकि हमारा खयाल है कि उनको दुनिया में अलग अलग काम करना है। इससे उनमें अलग अलग के कामों में रुचि भी पैदा हो जाती है। घर के और समाज के वातावरण का तथा रूढ़ियों का हम पर कितना प्रभाव पड़ता है यह तो हम सभी जानते हैं। अतः मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान इस निर्णय पर पहुँचा है कि लड़कियों और लड़कों में जो बुद्धि का भेद मालूम होता है वह वास्तविक नहीं है। वह भेद भिन्न लिङ्ग के कारण नहीं, वलिक भिन्न वातावरण तथा भिन्न शिक्षा के कारण है। इससे अब सह-शिक्षा का विरोध और किसी कारण से किया जाय, पर लड़कों और लड़कियों की बुद्धि में भेद के तर्क पर नो नहीं किया जा सकता।

हम लड़कों और लड़कियों के स्वभाव में तथा रुचि में भी भेद देखते हैं। पर अभी तक यह निश्चित नहीं है कि कहाँ तक

यह भेद प्राकृतिक है और कहां तक यह भिन्न वातावरण और भिन्न शिक्षा के कारण है। यदि यह भेद वातावरण और शिक्षा के कारण है तो इसके मिटाने का एक उपाय यह है कि लड़कों और लड़कियों को पढ़ने का बराबर मौका दिया जाय और यह आसानी से सह-शिक्षा की प्रणाली पर चलनेवाले स्कूल में ही दिया जा सकता है।

इस तरह हम देखते हैं कि लिङ्ग-भेद, जिसके बल पर अब तक सह-शिक्षा का विरोध किया गया है, वास्तविक नहीं है। इसके साथ साथ यह भी जान लेना ठीक होगा कि सह-शिक्षा लिङ्गों के वास्तविक भेद को मिटाना नहीं चाहती है। अच्छी शिक्षा का ध्येय यह है कि पुरुष को पूर्ण पुरुषत्व और स्त्री को पूर्ण स्त्रीत्व प्राप्त हो। सह-शिक्षा का भी यही ध्येय है। यह लड़कों और लड़कियों को साथ करके उन्हें आपस में एक दूसरे को समझने का तथा एक दूसरे के प्रति स्नेह और श्रद्धा के भाव उत्पन्न करने का अवसर भी देती है। यदि लड़के लड़कियों को भविष्य में साथ रहना है तो क्या यह अप्राकृतिक नहीं है कि उनको कुछ समय के लिये बिल्कुल ही अलग अलग कर दिया जाय ?

हाल ही में इंग्लैंड के कुछ मनोविश्लेषकों ने भी सह-शिक्षा का विरोध किया है। उनका कहना यह है कि लड़कों और लड़कियों

के भावुक जीवन, उनकी शारीरिक बनावटें तथा माता-पिताओं की ओर उनके भाव भिन्न (लड़के का माता से प्रेम और पिता से घृणा तथा लड़की का पिता से प्रेम और माता से घृणा) होने के कारण उनकी वृद्धि भी भिन्न दिशाओं में होती है। बच्चों के अज्ञात मन में माता-पिताओं की ओर घृणा और हिंसा की प्रवृत्ति के कारण अपनी जननेन्द्रियों की ओर पाप का भाव होनें लगता है। जाग्रत अवस्था में भी मन पर इसका बराबर प्रभाव पड़ता दिखाई देता है। लड़कों तथा लड़कियों के मन में प्रायः यह भावना होने लगती है कि उनकी जननेन्द्रियाँ दोषयुक्त और व्यर्थ हैं, उनके शरीर में कोई दोष है, उनमें दिमाग़ी ताक़त कम है, उनमें कोई मनोबल नहीं है अथवा उनमें प्रेम करने की या प्रेम किये जाने की शक्ति नहीं है। इस तरह की भावना मन में होने का मूल कारण ढूंढा जाय तो यह पता लगेगा कि इसका सम्बन्ध अज्ञात मन में जननेन्द्रिय के प्रति पाप के भाव से है। संसार में कुशल व्यवहार एवं दाम्पत्य जीवन के सुखपूर्ण उपभोग के लिये यह आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष के मन में जननेन्द्रिय के प्रति पाप का भाव दूर हो। पाप का भाव स्त्री के मन में पुरुष के प्रति द्वेष और पुरुष के मन में स्त्री के प्रति घृणा उत्पन्न करता है, जिससे वे एक दूसरे को प्रेम करने में असमर्थ हो जाते हैं। यदि ऐसे स्त्री-पुरुष के मन में विवाह के बाद भी इस तरह का भाव बना

रहा तो उनका दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं हो सकता। कुछ स्त्री-पुरुष विवाह करके इस प्रकार के पाप के भाव को दूर कर लेते हैं। स्त्री बच्चा पैदा करके, उसका पालन-पोषण करके तथा गृहस्थ जीवन के अन्य कार्यों द्वारा अपने पाप के भाव को तथा भय को हल्का करती है और पुरुष पुरुषार्थ के विविध कार्यों द्वारा अपनी इस चिंता को दूर करता है। उपर्युक्त कुछ मनो-विश्लेषकों का यह मत है कि सह-शिक्षा की योजना पर चलने वाले स्कूल में इस पाप के भाव को हल्का करने का बहुत कम मौका मिलता है, क्योंकि ऐसे स्कूल में लड़के और लड़कियाँ एक दूसरे का मुकाबला करना सीखते हैं, जिससे उनके अज्ञात मन में पाप के भाव के कारण घृणा और द्वेष, जो छिपे हुए होते हैं, और अधिक वेग से भड़क उठते हैं।

यदि सह-शिक्षा का यही परिणाम होता हो तो लड़कों और लड़कियों को भिन्न स्कूल में पढ़ाना ही अच्छा है। बच्चों की अच्छी शिक्षा का एक आवश्यक परिणाम यह होना चाहिये कि उनका विवाहित जीवन सुखमय हो, क्योंकि इसी की सफलता पर हमारी सभ्यता बनी रह सकती है। परन्तु क्या सह-शिक्षा वस्तुतः इस प्रकार के घृणा और द्वेष के भाव जाग्रत करती है? यदि अच्छी तरह से इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि मुकाबला करने की प्रवृत्ति सह-शिक्षा का नहीं, बल्कि

कुशिक्षा का फल है। जो स्कूल सह-शिक्षा की योजना पर चलने वाले हैं वे पारस्परिक सहयोग का पूरा अवसर देते हैं। और सह-शिक्षा का मतलब यह तो नहीं है कि लड़कों और लड़कियों को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाय। उनको अपनी अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न विषय चुनने का अवसर मिलता है। सारी शिक्षण-पद्धति ऐसी लचीली होती है कि एक दूसरे से मुक़ाबला करने की प्रवृत्ति तथा द्वेष-भाव के उत्पन्न होने का मौक़ा ही नहीं रहता है।

दूसरी कठिनाई जो कुछ मनोविश्लेषक बताते हैं यह है कि सह-शिक्षा से स्कूल में ऐसा वातावरण हो जाता है जिस से लड़कों और लड़कियों की कामेच्छाएँ वेग से जाग्रत हो पड़ती हैं। इन इच्छाओं का तृप्त होना तो असम्भव ही है। और फिर सारी शक्ति को भले कार्यों में लगाना भी आसान नहीं है। ऐसी दशा में इन इच्छाओं को दबाना पड़ता है और इच्छाओं के दबने से मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है।

यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि कामेच्छा को दबाना एक बात है और उसको संयम द्वारा वश में रखना दूसरी बात है। यदि सह-शिक्षा की योजना को चलानेवाले शिक्षक समझदार हों तो बच्चों के व्यवहार में जब जब कामेच्छा लक्ष्य हो तब तब उन के साथ सहानुभूति का व्यवहार करके वे उनको संयम सिखा

सकते हैं। लड़का जब किसी लड़की से दोस्ती करे या उसके प्रति प्रेम-भाव प्रकट करे तब इसे साधारण अवस्था मानकर वे उन दोनों को यह सिखा सकते हैं कि जब तक उनकी अवस्था पूरी न हो जाय और वे अपने आप कमाने के लिये योग्य न हो जावें तब तक उनको संयम रखना चाहिये। शिक्षकों के इस तरह की समझदारी के व्यवहार से बच्चों में कामेच्छा के प्रति निंदा के भाव नहीं होंगे और वे उसको दबायेंगे नहीं, संयम से काम लेंगे।

यहाँ यह एक साधारण प्रश्न उठता है कि लड़कों और लड़कियों के व्यवहार में शिक्षकों को कहाँ तक ढील देना उचित है? क्या लड़कों और लड़कियों को स्कूल में ही कामेच्छा पूर्ण करने देना चाहिये? इस प्रश्न पर शिक्षकगण तथा विज्ञगण चुप्पी लगा जाते हैं। इस प्रश्न पर वे अपने स्पष्ट मत नहीं बताते। इसका उत्तर देने के पहिले यह बता देना उचित होगा कि माता-पिताओं तथा शिक्षकों का यह समझना कि बच्चों में कामेच्छा होती ही नहीं है या उनको इसके बारे में बिल्कुल ज्ञान ही नहीं होता, बड़ी भूल होगी। बच्चे इसके बारे में काफी जानते हैं। हम लोग बच्चों के व्यवहारों को निन्दनीय बताकर, उनको घृणा की दृष्टि से देखकर या उनको डरा-धमकाकर उनकी समस्याओं को हल करने के बजाय और कठिन कर देते हैं। परन्तु

इसके साथ यह भी सच है कि इस मामले में हम रूस के अनुयायी नहीं हो सकते हैं। रूस में तीन-चार साल पहिले एक क़ानून बनाया गया था जिससे लड़कों और लड़कियों को इस बात की इजाजत मिली कि वे थोड़े अर्से के लिए स्कूल ही में शादी करलें। सोवियट सरकार ने इस बात का ज़िम्मा लिया कि इस तरह जो बच्चे पैदा होंगे उनका पालन सरकार करेगी। इस तरह के व्यभिचार से क्या तन्दुरुस्त और जिम्मेदार जाति पैदा होगी? हम इस मामले में रूस का अनुसरण तो नहीं कर सकते हैं, पर इस बात में भी सन्देह है कि हमारे गुरुकुल, जहाँ एक लड़के का किसी लड़की की तरफ देख लेना पाप समझा जाता है, हमारे युवकों को दोष-रहित बनायेंगे। एक अनुभवी विद्वान् ने तो इस विषय में कहा है कि हम फोर्ड गाड़ी का एक भाग एक फैक्टरी में बना सकते हैं और दूसरा भाग दूसरी फैक्टरी में और बाद में उन भागों को जोड़कर एक अच्छी मोटर गाड़ी तैयार कर सकते हैं, पर हम लड़कों और लड़कियों के साथ ऐसा नहीं कर सकते, उनको अलग अलग स्कूलों में पढ़ाकर हम उनकी एक आदर्श दुनिया नहीं बना सकते। अतः हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि सह-शिक्षा की योजना में काम करने वाले शिक्षकों को न तो इस मामले में बहुत कड़ाई करनी चाहिये और न बहुत ढील ही देनी चाहिये। उनको बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार

करना चाहिये जिससे वे कामेच्छा को निन्दनीय नहीं बल्कि एक प्राकृतिक इच्छा समझें और इसके साथ आत्म-संयम उत्पन्न करें।

इस सम्बन्ध में एक और कठिनाई कुछ मनोविश्लेषकों ने बताई है। उनका कहना है कि युवावस्था में लड़के और लड़कियाँ अपने अलग अलग दल बना लेते हैं और उनको विपरीत लिङ्ग वालों से कोई प्रेम नहीं होता है और न वे उनसे मिलना ही पसन्द करते हैं। सह-शिक्षा से उनको जबरदस्ती मिलना पड़ता है और साथ रहना पड़ता है, इससे बरबस ही उनके मन में द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं जिनसे उनका भविष्य जीवन भी दुःखमय हो जाता है। यह बात बिल्कुल सच है कि ८-१२ वर्ष की अवस्था में लड़कों और लड़कियों में अपने ही लिङ्गवालों से प्रेम होता है और अपने से विपरीत लिङ्गवालों के प्रति बहुत कम आकर्षण होता है। परन्तु साधारण वातावरण में यह स्थिति थोड़े ही काल तक रहने वाली होती है। इस अवस्था के बीत जाने पर लड़के और लड़कियाँ फिर से अपने से विपरीत लिङ्गवालों की ओर आकर्षित होने लगते हैं और यह इसी आकर्षण का फल होता है कि वे विवाह कर लेते हैं।

सह-शिक्षावाले स्कूल लड़कों और लड़कियों को युवावस्था में आपस में मिलने के लिए विवश तो कभी नहीं करते। उनको इच्छानुसार मैत्री करने की तथा दल बनाने की पूरी स्वतन्त्रता

होती है। ऐसे स्कूल में एक विशेष लाभ यह होता है कि दोनों लिङ्गों के बच्चों के साथ रहने से वे एक ही लिङ्गवालों के साथ मैत्री की स्थिति से शीघ्र ही स्वाभाविक रूप से बाहर निकलकर विपरीत लिङ्गवालों की ओर आकर्षित होने लगते हैं और इसी के ऊपर उनके भविष्य के दाम्पत्य जीवन का सुख निर्भर होता है।

सह-शिक्षा के अन्य कई लाभों की मैंने यहाँ चर्चा नहीं की है। यहाँ केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस विषय पर विचार किया है। अपने देश में हमको प्रयोगों द्वारा अभी यह सिद्ध करना है कि सह-शिक्षा हमारे बालकों तथा बालिकाओं के पूर्ण विकास के लिए, उनके चरित्र-निर्माण के लिए तथा उनके सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिए बड़ा अच्छा साधन है।

मर्यादा-पालन

जंगली तथा असभ्य अवस्था में मनुष्य का आचरण समय समय पर उत्पन्न होने वाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के अनुसार हुआ करता था। परन्तु धीरे धीरे मनुष्य-समाज को यह मालूम होने लगा कि इस प्रकार मनमाना करने में उसकी भलाई नहीं है, इसलिए इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापार की उसने मर्यादा बाँधी, अपने प्रत्येक कार्य के – खाने पीने के, सोने-

जागने के और पारस्परिक व्यवहार के— नियम बनाये। उन्हीं नियमों के संग्रहों से बड़े बड़े धर्म-शास्त्र बने। उन नियमों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य समझा जाने लगा और जो उनकी किसी मर्यादा का उल्लङ्घन करता उसे उचित दण्ड दिया जाता। नियमों के बनते समय सभी लोगों ने उनके लिये पूर्ण स्वीकृति दी। पर धीरे धीरे होने यह लगा कि शक्तिशाली नियम बनाते और अशक्तों को जबरदस्ती उनका पालन करना पड़ता। अशक्तों का कार्य केवल नियम-पालन रहता। नियमों की नीति के विषय में जानने का उन्हें अधिकार न होता।

यों तो मनुष्य की प्रत्येक संस्था में नियम-निर्वाह या मर्यादा-पालन की बात होती है, परन्तु मर्यादा-पालन का सबसे अच्छा चित्र आजकल तीन संस्थाओं में दिखाई देता है– जेल में, फौज में और स्कूल में। क़ैदियों, सिपाहियों और विद्यार्थियों के लिए उनके अधिकारी लोग नियम बनाते हैं और बिना कोई उज्र या आपत्ति किये उनको इनकी आज्ञा माननी पड़ती है। यदि आज्ञा पालन न करें तो उनको कड़ी सज़ा भुगतनी पड़ती है। क़ैदियों और सिपाहियों को तो मौत तक की सज़ा दी जाती है, पर विद्यार्थियों को केवल बेंतों की मार से ही छुट्टी मिल जाती है।

सामाजिक दृष्टिकोण से देखने पर यह तो मान लेना होगा कि मर्यादा बाँधना अनिवार्य है। इसके बिना कोई समाज बना

नहीं रह सकता। बच्चे के लिये मर्यादा की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि संसार का उसे कोई अनुभव नहीं होता। उसे यह सिखाना पड़ता है कि दुनिया में अकेला वही नहीं है, उसी के समान इच्छा रखने वाले और लोग भी हैं जिनका इस संसार में उतना ही अधिकार है जितना उसका है। उनके लिये उसे उचित स्थान देने पड़ेंगे। यह सिखाये बिना दुनिया में कोई काम चल नहीं सकता। यदि हम सब अपना मनमाना करने लगें तो हमारे समाज की वही दशा होगी जो जंगल में जानवरों की होती है। इसलिये इसमें बहुत मतभेद नहीं है कि जो वय में बड़े हों और अधिक अनुभवी हों वे बच्चों को समाज में रहना और उसके नियमों का पालन करना सिखावें जिससे धीरे धीरे उनमें आत्मसंयम पैदा हो जाय और बाहरी दमन की तथा रुकावटों की उतनी जरूरत न पड़े। शिक्षा का मुख्य ध्येय आत्म-संयम उत्पन्न करना है अर्थात् बच्चे को उस अवस्था तक पहुँचा देना जहाँ कि उसके लिये जितने भी नियम हों वे बाहर से लादे गये न हों बल्कि उसके अपने ही बनाये हों।

अब तक हम यह समझते आये हैं कि यदि जब कोई बुरा काम करे तो शारीरिक दण्ड देने से और जब कोई अच्छा काम करे तो पारितोषिक या इनाम देने से अच्छी आदतें डाली जा सकती हैं। मनोविज्ञान ने खोज करके यह बताया है कि शारीरिक

दण्ड से बच्चे को लाभ होने के बजाय बहुत हानि ही होती है। इससे उसका केवल आत्म-सम्मान ही नहीं घट जाता, सब से बुरी बात यह होती है कि वह आगे जाकर और लोगों पर अत्याचार करने लगता है। दण्ड पाया हुआ बच्चा बड़ा होकर और लोगों को दण्ड दिये बिना शान्त नहीं होता। ऐसे लोग बिरले ही होंगे जिनको दण्ड देते समय क्रोध न आता हो। मनुष्य जब बच्चे को दण्ड देता है तब उसके ध्यान में यह तो कम रहता है कि दण्ड बच्चे का सुधार करने के लिये है, प्रायः वह क्रोध के आवेश में, बच्चे ने जो बुरा काम किया हो उसका बदला लेने के लिये उसको सजा देता है। बच्चा यह ताड़ लेता है और वह जान जाता है कि उससे बदला लिया जा रहा है। बहुत से बच्चे ऐसे हठी देखे गये हैं कि जिस काम के लिये उनको बार बार दण्ड दिया जाता है उसी को वे करते हैं। ऐसे बच्चों के अज्ञात मन को जिन लोगों ने जाना है उनको मालूम हुआ है कि ऐसे बच्चे आज्ञा का उल्लङ्घन भिन्न भिन्न कारणों से करते हैं। कभी तो बच्चा आज्ञा का उल्लङ्घन करके इस बात की परीक्षा लेना चाहता है कि उसके माता-पिता अच्छे हैं या बुरे, अर्थात् उस से प्रेम करते हैं या घृणा। यदि माता-पिता नियम के उल्लङ्घन करने पर उसको डराते हैं या मारते-पीटते हैं, तो उसको माता-पिता के प्रति भय उत्पन्न होने लगता है और धीरे धीरे उसे

सारे संसार के प्रति अविश्वास हो जाता है। और माता-पिता यदि स्नेह से काम लेते हैं तो वह केवल उनपर ही विश्वास नहीं करता बल्कि सारे संसार को प्रेम और विश्वास की दृष्टि से देखता है। माता-पिताओं की तथा बड़ों की परीक्षा लेने का कारण यह होता है कि बच्चे के मन में माता-पिता के प्रति पहिले और दूसरे वर्ष में घृणा होती है और उनपर हमला करने की भावनाएँ होती हैं और साथ साथ उसके मन में भय भी उत्पन्न होने लगता है। यह सब उसके भीतरी मन में होता है, पर बाहरी व्यवहार में वह आज्ञा का उल्लंघन करके तथा हठ कर के यह आश्वासन चाहता है कि माता-पिता उसे दुःख तो नहीं देंगे। कभी कभी बच्चा आज्ञा का उल्लंघन इसलिये भी करता है कि वह माता-पिता को तथा बड़ों को चिढ़ाना चाहता है। वह यह खूब जानता है कि उसके नियम तोड़ने से माता-पिता चिढ़ते हैं तथा क्रोध करते हैं। माता-पिता जब उसको दण्ड देते हैं तब मन में वह प्रसन्न होता है क्योंकि माता-पिता के चिढ़ने से उसकी इच्छा पूरी होती है।

प्रायः ऐसा भी होता है कि बच्चे को यह समझ में नहीं आता कि नियम उसके लिये क्यों बनाये गये हैं। बड़े लोग जब नियम बनाते हैं तो वे अपने दृष्टिकोण से बनाते हैं और वे नियम प्रायः बच्चों की समझ के बाहर होते हैं। बच्चा इसकी अन्याय

समझता है कि जिस काम की जरूरत उसकी समझ में नहीं आती वह काम उससे कराया जाता है। ऐसे नियमों को तोड़ना वह अपना कर्तव्य समझता है। कभी कभी बच्चा यह भी समझता है कि उसके माता-पिता तथा अन्य लोग उन्हीं नियमों को बराबर तोड़ते हैं जिनके पालने के लिए उस पर जबरदस्ती की जाती है। बच्चे के सामने ऐसे नियमों का कोई मूल्य नहीं होता।

इनाम देना भी उतना ही बुरा है जितना कि सजा देना। इनाम एक प्रकार की रिश्वत है जिसको देकर हम बच्चे से ऐसा काम कराना चाहते हैं जिसमें उसकी कोई दिलचस्पी नहीं होती। हम तो यह चाहते हैं कि इनाम देकर बच्चे की प्रवृत्ति अच्छे कामों की तरफ ज्यादा बढ़ायें, पर होता इसका उल्टा ही है। बच्चे का ध्यान काम से हटकर इनाम की तरफ लग जाता है और धीरे धीरे वह काम को भूलकर इनाम के पीछे ही पागल हो जाता है।

माता-पिता तथा अन्य लोग बच्चों में संयम का भाव उत्पन्न करने के लिए एक और उपाय काम में लाते हैं। वे बच्चों से अक्सर कहते हैं— "देखो! हमने तुम्हारे लिए इतने कष्ट सहे हैं, इतना धन खर्च किया है। तुम हमारा इतना भी कहना नहीं मानते?" माता-पिता अपने स्वार्थ को प्रेम समझ कर उसके

बदले में बच्चों के भावों को अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं। कभी कभी वे ऐसा करके बच्चों से मनचाहा काम कराने में सफल हो जाते हैं, पर इससे बच्चों को संयम नहीं सिखाते। बच्चा तो संयम तभी सीखता है जब वह काम का मूल्य अपने आप अपनी बुद्धि द्वारा समझे। भावुकता के आवेश में आकर बच्चा जो काम करता है उसकी नींव स्थायी नहीं रहती और वह अक्सर डाँवाडोल होता रहता है।

जब हम यह कहते हैं कि न दण्ड से, न इनाम से, और न भावुकता से बच्चों में संयम उत्पन्न हो सकता है तब माता-पिताओं तथा शिक्षकों के मन में यह सहज प्रश्न उठ सकता है कि फिर बच्चों में संयम कैसे उत्पन्न हो? क्या बच्चों को बिल्कुल स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय? ऐसा करना तो बड़ी भूल होगी। जिस प्रकार बच्चों को दण्ड देने से उनके मन में दण्ड देने वालों के और धीरे धीरे सारे संसार के प्रति भय और अविश्वास बढ़ता जाता है, उसी प्रकार उनको बिल्कुल स्वच्छन्द छोड़ देने पर भी वैसा ही परिणाम होता है। बच्चा जब कोई बुरा काम करता है और उस बुरे काम के लिए उसको कभी कोई कुछ नहीं कहता है तो उसकी अन्तरात्मा उसको सताती है और वह बहुत खिन्न होने लगता है। इससे वह बुरा काम और अधिक करने लगता है। बच्चों को यह आश्वासन चाहिये कि

उनके माता-पिता तथा शिक्षक उनके बुरे कामों को बुरा बताकर और रोक कर भी उनको पीटेंगे नहीं। माता-पिता उनके कामों में अपनी नापसन्दगी बता दें और उनके साथ बहुत सख्ती का वर्ताव न करें तो वे जल्द ही बुरा काम करना बन्द कर देंगे, क्योंकि इससे उनको माता-पिताओं की अच्छाई में पूरा विश्वास हो जायगा। इस लिए जब किसी नियम के तोड़ने में बच्चे की शक्ति नाशकारी काम में खर्च होती हो और उससे समाज की वास्तविक हानि होती हो तो शीघ्र ही माता-पिता और शिक्षकों को अपने व्यवहार से यह साफ बता देना चाहिये कि वे उसके काम को पसन्द नहीं करते हैं।

बच्चों में आत्म-संयम उत्पन्न करने के लिए दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि बच्चे जिस वातावरण में रहते हों उसमें व्यवस्था और ढंग हो। घर हो या स्कूल— बच्चा जहाँ भी हो, उसको यह मालूम होना चाहिये कि जिस दुनिया में वह घूमता फिरता है उसमें नियम हैं और सब लोग नियम-पूर्वक चलते हैं। जहाँ कुछ लोग किसी एक नियम का पालन कराने में बच्चे पर बहुत अधिक जोर देते हों और दूसरे कुछ लोग उसकी कुछ भी परवाह न करते हों, वहाँ बच्चे पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। माता-पिता तथा शिक्षक अपनी कमियों को अपने बच्चों द्वारा पूरी कराना चाहते हैं। वे बच्चों की प्रकृति और उनकी रुचि

बदले में बच्चों के भावों को अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं। कभी कभी वे ऐसा करके बच्चों से मनचाहा काम कराने में सफल हो जाते हैं, पर इससे बच्चों को संयम नहीं सिखाते। बच्चा तो संयम तभी सीखता है जब वह काम का मूल्य अपने आप अपनी बुद्धि द्वारा समझे। भावुकता के आवेश में आकर बच्चा जो काम करता है उसकी नींव स्थायी नहीं रहती और वह अक्सर डाँवाडोल होता रहता है।

जब हम यह कहते हैं कि न दण्ड से, न इनाम से, और न भावुकता से बच्चों में संयम उत्पन्न हो सकता है तब माता-पिताओं तथा शिक्षकों के मन में यह सहज प्रश्न उठ सकता है कि फिर बच्चों में संयम कैसे उत्पन्न हो? क्या बच्चों को बिल्कुल स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय? ऐसा करना तो बड़ी भूल होगी। जिस प्रकार बच्चों को दण्ड देने से उनके मन में दण्ड देने वालों के और धीरे धीरे सारे संसार के प्रति भय और अविश्वास बढ़ता जाता है, उसी प्रकार उनको बिल्कुल स्वच्छन्द छोड़ देने का भी वैसा ही परिणाम होता है। बच्चा जब कोई बुरा काम करता है और उस बुरे काम के लिए उसको कभी कोई कुछ नहीं कहता है तो उसकी अन्तरात्मा उसको सताती है और वह बहुत चिन्तित होने लगता है। इससे वह बुरा काम और अधिक करने लगता है। बच्चों को यह आश्वासन चाहिये कि

उनके माता-पिता तथा शिक्षक उनके बुरे कामों को बुरा बताकर और रोक कर भी उनको पीटेंगे नहीं। माता-पिता उनके कामों में अपनी नापसन्दगी बता दें और उनके साथ बहुत सख्ती का बर्ताव न करें तो वे जल्द ही बुरा काम करना बन्द कर देंगे, क्योंकि इससे उनको माता-पिताओं की अच्छाई में पूरा विश्वास हो जायगा। इस लिए जब किसी नियम के तोड़ने में बच्चे की शक्ति नाशकारी काम में खर्च होती हो और उससे समाज की वास्तविक हानि होती हो तो शीघ्र ही माता-पिता और शिक्षकों को अपने व्यवहार से यह साफ बता देना चाहिये कि वे उसके काम को पसन्द नहीं करते हैं।

बच्चों में आत्म-संयम उत्पन्न करने के लिए दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि बच्चे जिस वातावरण में रहते हों उसमें व्यवस्था और ढंग हो। घर हो या स्कूल— बच्चा जहाँ भी हो, उसको यह मालूम होना चाहिये कि जिस दुनिया में वह घूमता फिरता है उसमें नियम हैं और सब लोग नियम-पूर्वक चलते हैं। जहाँ कुछ लोग किसी एक नियम का पालन कराने में बच्चे पर बहुत अधिक ज़ोर देते हों और दूसरे कुछ लोग उसकी कुछ भी परवाह न करते हों, वहाँ बच्चे पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। माता-पिता तथा शिक्षक अपनी कमियों को अपने बच्चों द्वारा पूरी कराना चाहते हैं। वे बच्चों की प्रकृति और उनकी रुचि

को बिल्कुल भूल जाते हैं। यह बात ध्यान में रहनी चाहिये कि बच्चा भी एक व्यक्ति है और उसके अपने ही भाव, विचार और इच्छाएँ होती हैं। अक्सर घर में माता और पिता की बहुतेरी बातों में राय एक नहीं होती। सौभाग्य से माता-पिता की राय एक हो भी तो माता-पिता और शिक्षक के विचार नहीं मिलते। बच्चे को कई लोगों से काम रहता है और ऐसा बहुत ही कम होता है कि उसके साथ व्यवहार में सब लोगों की नीति समान हो। इससे बच्चे के विकास और आत्म-संयम में बाधा पड़ती है। वह कभी कभी अपना रूप दोहरा रखता है; एक व्यक्ति के सामने वह अपने एक रूप में उपस्थित होता है और दूसरे के सामने दूसरे। धीरे धीरे इस दुरङ्गी का परिणाम यह होता है कि बच्चा अपना वास्तविक रूप बिल्कुल ही खो बैठता है। मैंने एक बच्चे की इसी प्रकार दुर्दशा होते देखी है। बच्चे के पिता उसको एक ढंग पर चलाना चाहते हैं और उसके चाचा दूसरे ढंग पर। दोनों के विचारों में और आदर्शों में बड़ा अन्तर है। बच्चे की समझ में नहीं आता कि वह क्या करे। वह पिता को नाराज़ नहीं करना चाहता, इसलिये उनके सामने उनके दिल-पसन्द काम करता है और उनके सामने न रहने पर वह वे काम करता है जो उसके चाचा को तथा उस को पसन्द हैं। इस का बच्चे के चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ा है। ऐसे बच्चे में आत्म-

संयम होना बड़ा कठिन है, क्योंकि उसके लिए मर्यादा कोई वस्तु ही नहीं है। उसके लिये मर्यादा का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ होता है और वह किसी व्यक्ति की उपस्थिति तक ही रहता है।

आत्म-संयम का सम्बन्ध शरीर से ही नहीं, बच्चे के मन की आन्तरिक स्थिति से होता है। बच्चा चोरी करता है, झूठ बोलता है, बड़ों की आज्ञा का उल्लङ्घन करता है, दूसरों को धोखा देता है, हठ करता है या दूसरों को सताता है तो यह नहीं समझना चाहिये कि वह किसी शारीरिक आवश्यकता को पूर्ण कर रहा है। उसके मन में क्लेश, द्वन्द्व या तनाव होता है और उसी के कारण वह प्रायः ऐसा काम करता है। इसको मिटाने के लिये बड़ों को पहिले यह चाहिये कि वे बच्चों के मन को समझने की कोशिश करें। प्रत्येक व्यक्ति की बच्चे के अज्ञात मन तक पहुँच नहीं होती, पर वह इस कमी को अपने प्रेम द्वारा पूरी कर सकता है। प्रेम और समझ से काम लिया जाय तो बच्चे को मर्यादा का पालक और आत्म-संयमी आसानी से बनाया जा सकता है।

यहाँ मैं दो ऐसे बच्चों के उदाहरण देना चाहता हूँ जिन्होंने मर्यादा तोड़ी और जिन्हें मुझे देखना पड़ा।

(१) एक लड़का प्रायः चोरी किया करता था। कभी किसी की किताब चुरा ले जाता तो कभी किसी का कपड़ा। एक दिन

यह छात्रावास में से एक लड़के के बीस-पचीस रुपये चुरा ले गया। हमें जब मालूम हुआ तो हमने उसके न रहने पर उसके घर जाकर तलाशी ली। उसके पिता ने भी इसमें सहयोग दिया। रुपये ज्यों के त्यों उसके कमरे में रखे हुए थे। लड़के को बुलाकर पूछा गया तो उसने कहा कि उसने रुपये नहीं लिये। जब हमने उससे कहा कि रुपये हमको मिल गये हैं तब वह नाहीं नहीं कर सका। मैंने उसको समझाया कि चोरी करने से वह लोगों की निगाह से गिर जायगा और यह भी बताया कि वह अभी तक गिरा नहीं है; अब भी यह लोगों से प्रेम और सम्मान पाना चाहता है तो उसको चोरी करना बंद कर देना चाहिये।

इसका असर बच्चे पर आगे जा कर क्या होगा, मैं यह यह नहीं कह सकता। पर इतना मैं निश्चय रूप से कह सकता हूँ कि डराने-धमकाने से बच्चा इस आदत को नहीं छोड़ता। एक दूसरे बच्चे को मैं जानता हूँ जो घर में और बाहर प्रायः नित्य चोरी करता है और इसके लिये उसको खूब सजा दी जाती है। तब भी वह चोरी करना नहीं छोड़ता है। बच्चे की चोरी का उसके ज्ञात मन से सम्बन्ध नहीं है। यह आदत अवश्य उसके अज्ञात मन में किसी द्वन्द्व का परिणाम है। बच्चा जानता है कि चोरी करना बुरा है और उसके लिये उसको सजा भुगतनी पड़ेगी, तब भी वह अपने आप को रोक नहीं सकता

है। अंदर से उसे जो प्रेरणा होती है वह उससे रोकी नहीं जा सकती है।

प्रायः यह देखा गया है कि चोरी करने वाले बच्चे किसी खास इच्छा से चोरी नहीं करते हैं। चोरी करके वे किसी मानसिक क्लेश या द्वंद्व को शान्त करते हैं। चोरी करने वाले बच्चे प्रायः ऐसे मिलते हैं जो किसी कारण से घर में दुःखी हैं। उनको माता-पिता चाहते नहीं हैं या माता-पिता में बनती नहीं है, या उनमें कोई काम-सम्बन्धी दबाव है। इस आदत को मिटाने के लिये कोई खास नुस्खा नहीं बताया जा सकता। प्रत्येक बच्चे की अपनी अपनी मानसिक उलझनें होती हैं। उन को सुलझाये बिना बच्चे की यह आदत मिट नहीं सकती। चोरी करने पर दण्ड देना, डराना-धमकाना वैसा ही है जैसा शरीर के खून की खराबी से निकले फोड़े पर ऊपर से मरहम लगाना। जब तक खून साफ नहीं किया जाता, फोड़ों का इलाज नहीं होता। उसी तरह जब तक मानसिक उलझनें सुलझाई नहीं जातीं, बच्चे की चोरी करना इत्यादि बुरी आदतें नहीं मिटतीं। चोरी करना रोग नहीं है, रोग का लक्षण है।

(२) एक लड़का जब स्कूल में आया तो बहुत क्रोध करता था। छोटी छोटी बात पर वह बिगड़ने लगता और शिक्षकों को गालियाँ देने लगता। घर पर माता-पिता के साथ भी उस

का ऐसा ही बर्ताव रहता था। हमारे यहाँ के सब शिक्षक उसके स्वभाव से परिचित हो गये और जब वह क्रोध करता और गालियाँ देता तो वे बिल्कुल चुप हो रहते। लड़का रो-पीट कर अपने आप कुछ समय में शान्त हो जाता। एक दिन वह दर्जे में बैठा हुआ पढ़ रहा था और जोर जोर से पढ़ कर दूसरे लड़कों के काम में बाधा पहुँचा रहा था। शिक्षक ने उसे मना किया, तब भी वह नहीं माना। इस पर शिक्षक ने उसे दर्जे से बाहर निकाल दिया। बाहर आते ही वह शिक्षक पर गालियों की बौछार करने लगा। शिक्षक लाचार था। वह सब लड़कों की हानि नहीं होने दे सकता था। लड़का गालियाँ दे कर रोता हुआ मेरे पास आया और मुझसे कहने लगा कि शिक्षक ने उसको जबरदस्ती बिना कारण दर्जे के बाहर कर दिया है और उसका अपमान किया है। मैंने उसको आश्वासन दिया और कहा कि उसकी शिकायत पर पूरा विचार किया जायगा। मैंने स्कूल की नायक-सभा की एक बैठक बुलाई और यह मामला उसके सामने रक्खा। नायक-सभाने शिक्षक और लड़के के वक्तव्य सुनने के बाद यही निर्णय किया कि दोष उस लड़के का ही है और यदि वह अपना दोष स्वीकार नहीं करता तो भविष्य में नायक-सभा कभी उसकी किसी शिकायत को नहीं सुनेगी। इसको सुन कर उस समय तो वह रोया-चिल्लाया, पर एक दो दिन के बाद

शांत हो गया। पहिले से अब वह बच्चा बहुत कम क्रोध करता है। यदि उस बच्चे को डराया धमकाया जाता तो वह कभी शांत नहीं हो सकता था। उसका झगड़ा उसके समान वय वाले अधिकारियों से था, पर जब निर्णय नायक-सम्मेलन पर छोड़ दिया गया तो बच्चे को उसका कहना मानना पड़ा। वह एक आदमी से झगड़ सकता था, पर सारे समाज से नहीं।

मैंने यह कहा है कि बच्चा जब किसी नियम को तोड़े तो कर्त्तव्य यही है कि उसके साथ दण्ड, इनाम या भावुकता से नहीं, प्रेम और समझ से काम लिया जाय। मुझे यह भी कहना चाहिये कि बच्चों का सुधार करने वालों को सबसे पहिले अपनी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि सुधार के बहाने वे अपनी किसी अज्ञात प्रेरणा को तो पूरी नहीं कर रहे हैं। और यह ध्यान में रखना चाहिये कि सच्चा मर्यादा-पालन आत्म-संयम से ही सम्भव है और वह प्रेम और व्यवस्था के वातावरण में ही उत्पन्न होता है।

शिक्षा और समाज

आज का समाज

समाज की उन्नति में अनेक संस्थाएँ साधन होती हैं। उनमें कुटुम्ब और स्कूल का सब से बड़ा भाग होता है। समाज परिवर्तित होता रहता है। नये वैज्ञानिक आविष्कार, नये आर्थिक तथा राजनैतिक विचार और संघर्ष समाज का उथल पुथल करते रहते हैं। भारतीय समाज में ही कुछ वर्षों पहिले व्यक्ति पर जाति, धर्म तथा कुटुम्ब का जैसा बन्धन था वैसा अब नहीं रहा। मनुष्य अब अधिकाधिक अन्तर्जातीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय

विचारों का होता जा रहा है, क्योंकि उसे अब अधिकाधिक एक दूसरे पर अवलम्बित रहना पड़ता है। रेल, तार तथा कल-कारखानों ने हमें बहुत एक दूसरे के समीप ला दिया है। हमारी दुनिया मानों छोटी हो आई है और हम एक दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं। दुनिया के एक कोने में अन्याय होता हो तो हमारी सहानुभूति वहाँ पहुँचने लगती है। हमको हर बात में एक दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। पुराने जमाने में किसान खेत जोतता था, वही सूत कातता था और वही कपड़ा बुनता था। अब ऐसा नहीं होता। हमारे पहिनने के कपड़ों की रूई कहीं से आती है, सूत कहीं कतते हैं और कपड़े कहीं और बुने जाते हैं। हमारे खाद्य पदार्थों का भी ऐसा ही हाल है। फलतः मनुष्य अपने विचारों में ही नहीं, व्यवहारों में भी अन्तर्जातीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय होता जा रहा है। किसी एक देश की संस्कृति भी अन्य देशों की संस्कृतियों से मिश्रित है। भारतीय संस्कृति हिन्दुओं, मुसलमानों या ईसाइयों की संस्कृति नहीं है, यह इन सब संस्कृतियों का संगम है।

समाज में जो नई नई परिस्थितियाँ उपस्थित हों उनका सामना करने वाली शक्तियों को उत्पन्न करने का काम शिक्षा का है। शिक्षा यदि मनुष्य को सुख से समाज में रहने के लिए समर्थ नहीं बनाती तो वह व्यर्थ है। यदि हम विचार से देखें

तो यह स्पष्ट होगा कि आजकल की शिक्षा समाज की ग्रन्थियों को सुलझाने में असफल हुई है। समाज अनेक दुःखों से पीड़ित है। दुनिया में अधिक अन्न होते हुए भी भूखों को भोजन नहीं मिलता, जरूरत से ज्यादा कपड़ा होते हुए भी नङ्गों को वस्त्र नहीं मिलता। संसार में असन्तोष और अविश्वास फैला है। यदि शिक्षा ने अपना कर्त्तव्य पूरा किया होता तो आज हमारे समाज की ऐसी शोचनीय दशा न होती।

हम अपने समाज के अधःपतन का विश्लेषण करें तो हमें पता लगेगा कि उसकी इस दशा का कारण व्यक्तिवाद है। इस व्यक्तिवाद में प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार जितना धन उपार्जन कर सकता है, स्वतन्त्रता से करता है— किसी के भले बुरे की चिन्ता नहीं, किसी की रोक-टोक का भय नहीं। यहाँ व्यक्ति व्यक्ति में प्रतिद्वन्द्विता है, इस घुड़दौड़ में दुर्बल और असहाय सहसा मर्दित हो जाते हैं। जब तक हमारे समाज में एक भी मनुष्य दुखी है, भूखा है, तब तक हम अपने को सभ्य नहीं कह सकते। संसार में अधिकतः लोग दुःखी हैं, अतः हम में सभ्यता कम, बर्बरता ही अधिक है।

अपनी बर्बरता दूर करने के लिए हमें अपने समाज का ढाँचा बदलना पड़ेगा। प्रतिद्विन्द्विता को हटाकर हमें सहयोग को स्थापित करना पड़ेगा। और संकुचित राष्ट्रीयता के बदले हमें अपने में अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न करने होंगे।

जब हम व्यक्तिवाद को बुरा बताते हैं तब यह प्रश्न उठता है कि क्या समाज के लिये व्यक्ति अपने को बिल्कुल ही बलिदान कर दे। क्या व्यक्ति को अपना विकास करने का अधिकार नहीं है? इसक उत्तर यही है कि व्यक्ति को अपना पूरा विकास करने का अधिकार है, पर उसका विकास और समाज का विकास साथ साथ होने चाहियें। जंगल में बैठा संन्यासी अपने हाथ-पाँव जिधर चाहे पसारे, उसको वहाँ कोई रोक-टोक नहीं। पर समाज में रह कर व्यक्ति का विकास सामाजिक होना चाहिये। व्यक्ति समाज के लिये है और समाज व्यक्ति के लिये। व्यक्ति अपना विकास समाज के द्वारा करे और समाज अपना विकास व्यक्तियों के विकास के द्वारा। व्यक्ति समाज का अङ्ग है और समाज व्यक्तियों से बना है, इसलिये दोनों की नौकाएँ एक ही धारा में बहनी चाहियें। यदि दोनों का विकास भिन्न दिशाओं में होगा तो समाज की दशा जैसी आज है, वैसी ही बनी रहेगी।

सामाजिक शिक्षा

(१) कुटुम्ब में—

कुटुम्ब में बच्चे की सर्वप्रथम सामाजिक शिक्षा प्रारम्भ होती है। प्रारम्भ में बच्चा स्वार्थी होता है। वह प्रत्येक वस्तु अपने ही लिये चाहता है। वह यह समझता है कि सारा संसार उसी के आनन्द-भोग के लिये है। धीरे धीरे वह जानने लगता है

कि उसके भाई बहिन, साथी संगी भी हैं जो उसके एकान्त आनन्द में से अपने हिस्से माँगते हैं। धीरे धीरे वह अपने आनन्द में उनको साथी बनाता है, क्योंकि उसे भी उनकी सहायता की आवश्यकता पड़ती है। बच्चे के खेल सामाजिक शिक्षा में बड़े उपयोगी होते हैं। खेल में एक बच्चा और बच्चों के सम्पर्क में आता है और अपने आनन्द के लिये उसे औरों से सहयोग करना पड़ता है।

सबसे पहिले बच्चा कुटुम्ब में यह सीखता है कि वह मनचाहा नहीं कर सकता। अवाञ्छनीय काम करने से वह रोका जाता है, जिससे उसकी स्वच्छन्दता में बाधा पड़ती है। पहिले वह क्रोध करता है, पर धीरे धीरे वह सीखने लगता है कि उसे यदि कुटुम्ब की शरण में रहना है और कुटुम्ब के लोगों से सहायता लेनी है तो उसे अपने स्वार्थ का कुछ बलिदान करना पड़ेगा। यही सामाजिक शिक्षा की पहली नींव है। माता-पिता इस नींव को भली प्रकार जमाने में बड़े सहायक हो सकते हैं।

(२) पड़ोस में—

धीरे धीरे ४-५ वर्ष की अवस्था में बच्चा अपने घर से अपने पड़ौसियों के घर जाने लगता है। इस प्रकार वह बाहर की दुनिया से अपना प्रथम सम्बन्ध जोड़ता है। वह और घरों से परिचित होता है और मन में नाप-तौल करने लगता है कि

उसके कुटुम्ब की रीति-रिवाजें, रूढ़ियाँ तथा नियम उसके पड़ौसियों की रीति-रिवाजों, रूढ़ियों तथा नियमों से किस प्रकार भिन्न हैं। किसी घर में वह देखता है कि वहाँ अधिक स्वच्छन्दता है और बच्चों को अपने स्वार्थ का कम बलिदान करना पड़ता है तो वह उसी घर के आदर्शों को अपनाने लगता है और अपने घर के आदर्शों तथा रूढ़ियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगता है। उसके घर के आदर्श तथा रूढ़ियाँ यदि बुरी हों तो नके तिरस्कार में कोई हानि नहीं, पर कभी कभी होता यह है कि बच्चा अपने घर के नियमों का केवल इसलिये तिरस्कार करता है कि उनका अनुसरण करने से उसे अपने स्वार्थ और सुख का कुछ त्याग करना पड़ता है। इससे बच्चे का चरित्र दुर्बल पड़ जाता है और आगे जाकर वह हर काम में सरल से सरल मार्ग ढूँढने का प्रयत्न करता है, चाहे इससे उसकी हानि भी होती हो।

माता-पिता इस प्रवृत्ति को कैसे रोकें? इस प्रवृत्ति को रोकने का एक ही उपाय है, वह यह है कि माता-पिता अपने पड़ौस के कुटुम्बों के साथ अपना सम्बन्ध ऐसा घना करें कि वे परस्पर अपने विचारों को प्रकट करके एक मत निश्चित कर सकें, जिससे बच्चों के मन में किसी प्रकार का द्वंद्व न रहे और वे सन्मार्ग के अनुगामी बनें। इस विषय में बच्चों को किसी

प्रकार का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं ही अच्छे नियमों को अपनाने लगेंगे यदि वे देखेंगे कि चारों ओर लोग उन नियमों का सम्मान करते हैं और उनसे समाज की भलाई होती है।

इसमें एक खतरा है। कभी कभी माता-पिता और अन्य लोग बच्चों में जबरदस्ती अनुचित रूढ़ियाँ जमाते हैं। एक बार एक रूढ़ि के जम जाने पर उसे उखाड़ना आसान नहीं है। माता-पिताओं को हर वक्त इस बात की परीक्षा करते रहना चाहिये कि जो रूढ़ियाँ वे बच्चों में आरोपित कर रहे हैं उन में कहाँ तक सचाई है। माता-पिताओं को यह विचारना चाहिये कि उनके बच्चे केवल उनके ही नहीं हैं, वे समाज के अङ्ग हैं। समाज की तरफ उनकी जिम्मेदारी है। इसलिये जो भी काम वे करें उसमें उनको समाज की भलाई अपने सामने रखनी चाहिये।

(३) संस्थाओं में—

संस्था किसी आदर्श के पीछे बनती है। वह अपने आगे किसी निश्चित ध्येय को रखकर काम करती है। जो मनुष्य एक मत के होते हैं वे मिलकर एक संस्था बना लेते हैं। मनुष्य के विचार भिन्न भिन्न विषयों में भिन्न भिन्न होने के कारण वह अनेक संस्थाओं का सदस्य हो सकता है।

बच्चे के जीवन पर संस्थाओं का प्रभाव जल्दी ही पड़ने लगता है, भले ही वह किसी संस्था के प्रतिनिधि से न मिला हो या किसी संस्था से न सम्बद्ध हो। संस्थाओं के आदर्श और रूढ़ियाँ हवा में रहती हैं। संस्थाओं के सम्पर्क में आये बिना ही बच्चों पर इनका प्रभाव पड़ता रहता है। माता-पिताओं का उत्तरदायित्व इस विषय में इस कारण हो जाता है कि संस्थाएँ सभी वयोवृद्ध लोगों के हाथों में होती हैं। माता-पिताओं को चाहिये कि वे संस्थाओं के आदर्शों को बराबर जाँचते रहें और उनकी रूढ़ियों तथा नियमों को सत्य की कसौटी पर परखते रहें। ऐसा यदि वे न करेंगे तो सम्भव है कि कुछ संस्थाओं का उन के बच्चों पर बुरा असर पड़े। संस्थाएँ प्रायः रूढ़ियों की शृङ्खलाओं में बँध जाती हैं और उनकी उन्नति रुक जाती है। उनमें समय के अनुकूल परिवर्तन नहीं होते रहते, उनकी प्रगतिशील शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिससे वे प्रतिगामियों के केन्द्र बन जाती हैं। इस प्रतिगामिता के संगठन को रोकने का एक यही उपाय है कि अपने बच्चों का हित तथा समाज का सुधार चाहनेवाले माता-पिता उन संस्थाओं में भाग लेकर उनमें प्रगति लायें।

ऐसा न करने से समाज की जो हानि होती है उसे बताने के लिये दो ही संस्थाओं— एक स्कूल और दूसरे धर्म— के उदाहरण काफी होंगे। संसार में अधिकतः स्कूल ऐसे हैं जो वयोवृद्ध

लोगों के हाथों में है। वे ही लोग स्कूलों के संचालक होते हैं और उनकी बागडोर अपने हाथों में रखते हैं। माता-पिता अपने बच्चों को स्कूल में भेजकर संतुष्ट हो जाते हैं और समझते हैं कि बच्चे अच्छे हाथों में हैं। परन्तु शिक्षकों को स्कूल में हेरे फेर करने का बहुत ही कम अधिकार होता है। वे तो मशीन के पुर्जों की तरह स्कूल में काम करते हैं और कठपुतली की तरह संचालकों के इशारों पर नाचते हैं। स्कूल उन लोगों के हाथों में होता है जो शिक्षा के विषय में प्रायः कुछ नहीं समझते और स्कूल के द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं। संसार की प्रगति किस ओर है और स्कूल को उसमें क्या सहायता देनी चाहिये, इस का उन को कुछ भी भान नहीं होता। यदि कुछ होता भी है तो वे अपने स्वार्थवश स्कूल को संसार की प्रगतिशाली शक्तियों से बचाये रखते हैं। माता-पिता यदि स्कूल के प्रति ऐसे उदासीन रहे तो समाज की ऐसी ही शोचनीय अवनति होती जायगी।

धर्म की भी ऐसी ही दशा है। यह भी ऐसे लोगों के हाथों में है जो उसके द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं। प्रत्येक बच्चे को धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता होती है। बच्चे प्रायः पूछते हैं— "ईश्वर कहाँ है ?", "हम लोगों का जीवन किस लिए है ?", "मृत्यु क्या है ?", "मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता

है ?" इत्यादि। जिन्होंने धर्म का ठेका ले रक्खा है, वे तो प्रायः इस प्रकार के प्रश्नों की समस्याओं से अनभिज्ञ हैं। उन्होंने इन समस्याओं पर गम्भीरता से कभी विचार नहीं किया है। झूठे आडम्बरों द्वारा बच्चों की जिज्ञासा को दबाने का ही प्रयत्न किया जाता है। आजकल का धर्म, जो आडम्बर हो गया है, सब से पहिले स्वतन्त्र विचार को दबाता है। धर्मगुरुओं से प्रश्न करना पाप गिना जाता है। जो कुछ वे कहते हैं या जो कुछ वे विश्वास करते हैं उसी में सब को अन्धविश्वास करना सिखाया जाता है।

आजकल जितनी धार्मिक संस्थाएँ हैं सभी पूँजीवाली हैं। हमारे धर्मगुरु औरों को तो त्याग का उपदेश देते हैं पर अपने पास धन-संचय करते जाते हैं। यदि अपनी मेहनत से ये धन कमायें तो कुछ बात नहीं, पर ये तो विश्वासी लोगों को धोखे में रखकर उनका धन चूसते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसा समय आता है जब उसे धर्म का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। परन्तु वह धर्म जो संस्था की रूढ़ियों में बँधा है और जो स्वार्थी लोगों के हाथों में है किसी को क्या सहारा देगा ? जो धर्म स्वयं बँधा हुआ है वह मनुष्य की ग्रन्थियों को क्या सुलझायेगा ?

माता-पिताओं से ही बच्चों के पहले प्रश्न होते हैं। इस लिए उनको अपनी धार्मिक शिक्षा पहिले पक्की कर लेनी चाहिये। धार्मिक समस्याओं पर खुले मन से विचार करना चाहिये और बच्चों को इन समस्याओं के सुलझाने में सहायता देनी चाहिये। बच्चों को आडम्बरी धर्मगुरुओं के पास सौंपने से उन्हें झूठी धार्मिक शिक्षा मिलती है। माता-पिताओं को बच्चों को यह सिखाना चाहिये कि धर्म का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म को केवल धर्म-पुस्तकों या विचारों में ही नहीं रखना चाहिये, उसे आचरण में लाना चाहिये। सच्चा धर्म वही है जो मनुष्य को इस संसार में उसका कर्तव्य सुझाये। भविष्य के जीवन के विषय में मनुष्य अवश्य विचार करे, पर केवल भविष्य के जीवन पर निर्भर रहकर इस जीवन में बह जाना तो उचित नहीं है। इसका परिणाम बड़ा बुरा होता है। धनी लोग धन की आड़ में प्रायः यह कहा करते हैं कि उनको जो धन मिला है यह उनके पूर्व जीवन के पुण्यों का फल है और अन्य लोगों की निर्धनता के वे उत्तरदायी नहीं हैं। ऐसा धर्म निर्धनों को कैसे शान्त रख सकता है?

माता-पिताओं तथा शिक्षकों को विचार के साथ सभी धार्मिक संस्थाओं की जाँच करनी चाहिये और सब बच्चों को इस ओर ले जाना चाहिये, जहाँ उन की तथा अन्य लोगों की सहायता से वे अपनी समस्याएँ आप हल कर सकें।

(४) दुनिया में—

माता-पिताओं की यह इच्छा रहती है, और कुछ हद तक यह ठीक भी है, कि कुटुम्ब में वे बच्चों को बाहर के बुरे प्रभावों से बचायें। कुछ अवस्था तक तो वे सफल हो जाते हैं, पर शीघ्र ही जब बच्चे बाहर की दुनिया में जाते हैं, तब उन्हें तरह तरह के प्रभावों का सामना करना पड़ता है। कुछ माता-पिता तब भी बच्चों के पीछे पीछे रहते हैं और जिनको वे बुरे प्रभाव समझते हैं उनसे बच्चों को बचाते रहते हैं। ऐसे बच्चे अक्सर डरपोक हो जाते हैं। वे दुनिया की नई नई स्थितियों का सामना करने के लिये असमर्थ हो जाते हैं। कोई भी नया काम अपने हाथों में लेने से वे डरते हैं। इस प्रकार बच्चों में स्वभावतः दुनिया के नये नये अनुभव प्राप्त करने का जो उत्साह रहता है, वह मर जाता है।

माता-पिताओं को यह समझ लेना चाहिये कि वे बच्चों को कितना ही बचायें, कुछ प्रभाव तो ऐसे हैं जिनसे वे उन्हें बचा नहीं सकते। जैसे, बच्चों को खेल के लिये साथी चाहियें। माता-पिता खेल के साथियों का तो काम नहीं दे सकते। खेल के साथी तरह तरह के घरों से आते हैं और अपने साथ तरह तरह के प्रभाव लाते हैं। इनको माता-पिता कैसे रोक सकेंगे? पुस्तक, अखबार, सिनेमा, रेडियो— ऐसी कितनी ही चीजें हैं जिन के

माता-पिताओं से ही बच्चों के पहले प्रश्न होते हैं। इस लिए उनको अपनी धार्मिक शिक्षा पहिले पक्की कर लेनी चाहिये। धार्मिक समस्याओं पर खुले मन से विचार करना चाहिये और बच्चों को इन समस्याओं के सुलझाने में सहायता देनी चाहिये। बच्चों को आडम्बरी धर्मगुरुओं के पास सौंपने से उन्हें झूठी धार्मिक शिक्षा मिलती है। माता-पिताओं को बच्चों को यह सिखाना चाहिये कि धर्म का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म को केवल धर्म-पुस्तकों या विचारों में ही नहीं रखना चाहिये, उसे आचरण में लाना चाहिये। सचा धर्म वही है जो मनुष्य को इस संसार में उसका कर्तव्य सुझाये। भविष्य के जीवन के विषय में मनुष्य अवश्य विचार करे, पर केवल भविष्य के जीवन पर निर्भर रहकर इस जीवन में बह जाना तो उचित नहीं है। इसका परिणाम बड़ा बुरा होता है। धनी लोग धन की आड़ में प्रायः यह कहा करते हैं कि उनको जो धन मिला है वह उनके पूर्व जीवन के पुण्यों का फल है और अन्य लोगों की निर्धनता के वे उत्तरदायी नहीं हैं। ऐसा धर्म निर्धनों को कैसे शान्त रख सकता है?

माता-पिताओं तथा शिक्षकों को विचार के साथ सभी धार्मिक संस्थाओं की जाँच करनी चाहिये और तब बच्चों को उस ओर ले जाना चाहिये, जहाँ उन की तथा अन्य लोगों की सहायता से वे अपनी समस्याएँ आप हल कर सकें।

(४) दुनिया में—

माता-पिताओं की यह इच्छा रहती है, और कुछ हद तक यह ठीक भी है, कि कुटुम्ब में वे बच्चों को बाहर के बुरे प्रभावों से बचायें। कुछ अवस्था तक तो वे सफल हो जाते हैं, पर शीघ्र ही जब बच्चे बाहर की दुनिया में जाते हैं, तब उन्हें तरह तरह के प्रभावों का सामना करना पड़ता है। कुछ माता-पिता तब भी बच्चों के पीछे पीछे रहते हैं और जिनको वे बुरे प्रभाव समझते हैं उनसे बच्चों को बचाते रहते हैं। ऐसे बच्चे अक्सर डरपोक हो जाते हैं। वे दुनिया की नई नई स्थितियों का सामना करने के लिये असमर्थ हो जाते हैं। कोई भी नया काम अपने हाथों में लेने से वे डरते हैं। इस प्रकार बच्चों में स्वभावतः दुनिया के नये नये अनुभव प्राप्त करने का जो उत्साह रहता है वह मर जाता है।

माता-पिताओं को यह समझ लेना चाहिये कि वे बच्चों को कितना हीं बचायें, कुछ प्रभाव तो ऐसे हैं जिनसे वे उन्हें बचा नहीं सकते। जैसे, बच्चों को खेल के लिये साथी चाहियें। माता-पिता खेल के साथियों का तो काम नहीं दे सकते। खेल के साथी तरह तरह के घरों से आते हैं और अपने साथ तरह तरह के प्रभाव लाते हैं। इनको माता-पिता कैसे रोक सकेंगे? पुस्तक, अखबार, सिनेमा, रेडियो— ऐसी कितनी ही चीजें हैं जिन के

प्रभाव बच्चों के जीवन पर पड़े बिना नहीं रहेंगे। माता-पिता अपने बच्चों में बस आत्म-विश्वास उत्पन्न कर दें तो वे अपने को आप संभाल लेंगे। आत्म-विश्वास उत्पन्न करने का तरीका यह है कि किसी भी स्थिति में बच्चे को आवश्यकता से अधिक सहायता न दी जाय। अधिक सहायता और अधिक दबाव से बच्चा दूसरों के सहारे सहारे दुनिया में चलता है, उसमें कभी यह विश्वास नहीं उत्पन्न होता कि वह किसी नई स्थिति का सफल सामना कर सकेगा।

दुनिया में भिन्न भिन्न मत तथा भिन्न भिन्न विचार-धाराएँ हैं। बच्चा इन धाराओं में पड़कर अपना व्यक्तित्व न खो दे, इसी बात का हम सब को प्रयत्न करना है। जिस मनुष्य में कोई व्यक्तित्व नहीं उससे समाज का हित नहीं। और किसी मनुष्य में व्यक्तित्व है पर वह समाज में विकसित नहीं हो पाता तो वह मनुष्य महात्मा भले ही हो, समाज के काम का नहीं। इस लिए हमको कुटुम्ब में, पड़ोस में, संस्थाओं में और दुनिया में बच्चों को ऐसी शिक्षा देने की आयोजना करनी चाहिये जिससे वे अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए समाज के सेवक और नेता दोनों ही बन सकें। ज्यों ज्यों सभ्यता आगे बढ़ती जायगी त्यों त्यों मनुष्य को संसार की समस्याएँ हल करने में अधिक से अधिक भाग लेना पड़ेगा। आज कल तो हमारे लिए दूसरे लोग काम ही

नहीं कर देते, हमारे लिए विचार भी लेते हैं। पर भविष्य के समाज में मनुष्य को संसार की प्रत्येक समस्या पर अपने आप विचार करना पड़ेगा और उसके कार्यों में अपना भाग सभालना पड़ेगा। बच्चों को इसके लिए तय्यार करने की जिम्मेदारी माता-पिताओं तथा शिक्षकों पर है। क्या हम यह भार संभालने को तय्यार हैं ?